सम्पादकीय

पण्डोरा पेपर्स : पूँजीवादी भ्रष्टाचार की बुनियाद है मजदूरों के श्रम की चोरी

काला धन और भ्रष्टाचार एक बेहद सनसनीखेज और लुभावना मुद्दा है। हमारे देश में अक्सर ऐसे मामले उजागर होते रहते हैं और भद्रजनों की सतही संवेदना और क्षणिक गुस्से को उकसाते रहते हैं। इसी सिलसिले की नयी कड़ी है पण्डोरा पेपर्स जिसमें हराम की कमाई से रातों-रात धनाढ्य बने देश-दुनिया के नामी-गिरामी हस्तियों के काले कारनामों का कच्चा चिट्ठा खोला गया है।

इण्टरनेशनल कंसोर्टियम ऑफ इन्वेस्टिगेटिव जर्नलिस्ट्स (आईसीजेआई) द्वारा किये गये इस विराट भण्डाफोड़ में 117 देशों के 600 पत्रकार शामिल थे। इसे "अब तक का सबसे बड़ा पत्रकारिता सहकार" माना जा रहा है। पण्डोरा पेपर्स स्विट्जरलैंड, सिंगापुर, साइप्रस, समोआ, वियतनाम, हांगकांग में 14 अलग-अलग अपतटीय धन सेवा फर्मों के साथ-साथ बेलीज, सेशेल्स, बहामास और कुख्यात टैक्स हैवन ब्रिटिश वर्जिन आईलैण्ड्स में सक्रीय फर्मों के गोपनीय रिकॉर्ड से हुए लीक पर आधारित हैं। ये फर्म धनाढ्यों और निगमों के लिए ट्रस्ट और कम्पनी बनाते हैं तथा उनकी काली कमाई को बहुत कम या बिना टैक्स वाले देशों या इलाकों के बैंकों में गुप्त खाते खुलवाने में मदद करते हैं।

पण्डोरा पेपर इस गोरखधंधे में लगी कम्पनियों और उनके ग्राहकों के लीक हुए ईमेल, मेमो, टैक्स रिटर्न, बैंक स्टेटमेंट, पासपोर्ट स्कैन, कॉरपोरेट ढाँचे के नक्शे, गोपनीय ब्यौरे और रियल एस्टेट की गुप्त खरीद-फरोख्त के कागजात सहित लगभग 1.2 करोड़ फाइलों के आधार पर तैयार किया गया है। कुछ दस्तावेजों से पहली बार इन फर्जी मुखौटा कम्पनियों के असली मालिकों का खुलासा हुआ है। इसमें दुनिया भर के सैकड़ों शीर्ष नेताओं, अभिनेताओं, खिलाड़ियों और पूँजीपतियों के नाम हैं। अनुमान है कि इस सूची में 300 से अधिक भारतीय धनाढ्यों के नाम हैं जिनमें सचिन तेंदुलकर, अनिल अम्बानी, विनोद अडानी, जैकी श्रॉफ, किरण मजूमदार-शॉ, नीरा राडिया और सतीश शर्मा जैसी हस्तियाँ शामिल हैं।

लगभग पाँच साल पहले भी आईसीजेआई ने पनामा पेपर्स के जरिये ऐसे ही भ्रष्टाचार का खुलासा किया था, जो एक कानूनी फर्म, मोसैक फोन्सेका द्वारा लीक की गयी जानकारियों पर आधारित था। हमारे देश में इस भण्डाफोड़ पर काफी हो-हल्ला मचा था, क्योंकि इस सूची में भी काली कमाई में लिप्त कई नामी-गिरामी भारतीयों के नाम थे। लेकिन इन काली करतूतों में शामिल लोगों पर कोई कार्रवाई होना तो दूर, सरकार ने उनका नाम भी सार्वजनिक नहीं किया था। भ्रष्टाचार के प्रति लोगों के आक्रोश और अन्ना आन्दोलन का लाभ उठाकर ही मोदी सरकार और केजरीवाल सरकार सत्ता में आयी, लेकिन इन लोगों ने भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने के बजाय इसे और भी बेलगाम छोड़ दिया।

दरअसल, भ्रष्टाचार इस व्यवस्था का अलिखित विधि-विधान और समानान्तर कार्य प्रणाली है। यह इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में ग्रीस और मोबिल का काम करता है। लगभग दस-पन्द्रह साल पहले जानेमाने अर्थशास्त्री प्रोफेसर अरुण कुमार ने भारत में भ्रष्टाचार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया था। उनका अनुमान था कि उस दौरान देश में 25,00,000 करोड़ की काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था मौजूद थी। इस अपार काली कमाई के लिए जिम्मेदार कौन है? इस पर किसका कब्जा है?

प्रोफेसर अरुण कुमार का अनुमान था कि काले धन की अर्थव्यवस्था में देश की आबादी का 3 प्रतिशत ऊपरी तबका ही सबसे ज्यादा लिप्त है। इसमें पूँजीपति, उद्योगपति और उनका प्रबन्ध-तंत्र, बड़े डीलर, डिस्ट्रीब्यूटर, कमीशन एजेंट, सट्टेबाज, तथा रियल एस्टेट, निर्माण उद्योग, मनोरंजन, शिक्षा, चिकित्सा, और सेवा क्षेत्र के विभिन्न व्यवसायों के मालिक, सरकारी अधिकारी, राजनीतिक पार्टियों के नेता और अन्य परजीवी शामिल हैं। इसी काले धन की बदौलत ये लोग देश के शासन-प्रशासन पर नियंत्रण रखते हैं, जिसके जरिये अपने लिए मोटी तनख्वाह और सुविधाएँ जुटाने के आलावा टैक्स में छूट, सरकारी धन का बन्दरबाँट, अरबों के फायदे के बदले करोड़ों की रिश्वत और सार्वजानिक सम्पत्ति की कानूनी-गैरकानूनी लूट में दिन-रात शामिल रहते हैं। यही तबका वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का सबसे बड़ा पैरोकार तथा नवउदारवादी लूटतंत्र का सामाजिक आधार है। इनको अपने अलावा सभी भ्रष्ट नजर आते हैं और भ्रष्टाचार पर सबसे ज्यादा प्रवचन भी ऐसे ही लोग देते हैं। अन्ना के आन्दोलन में भी इसी तबके के लोग सबसे आगे थे। सच तो यह है कि देश में पहले से ही जितने कानून मौजूद हैं, उनको कड़ाई से लागू कर दिया जाये, तो इस तबके के कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सभी लोग सलाखों के पीछे होंगे। लेकिन इस व्यवस्था को चलानेवाले भी तो

यही लोग हैं, इसलिए हमारे यहाँ छोटे चोरों को सजा होती है, जबकि बड़े चोरों को सम्मानित किया जाता है।

मजेदार बात यह कि पूँजीवादी व्यवस्था में कोई भी भ्रष्टाचार अचानक शिष्टाचार बन जाता है, जब इस व्यवस्था को चलानेवाले लोग किसी भ्रष्ट आचरण-व्यवहार या पेशे को कानूनी जामा पहना देते हैं। काले धन को सफेद करने के लिए कानून बनाया जाना (मनी लांड्रिंग), सोने के आयात की छूट, सीमा शुल्क 350 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत किया जाना, श्रम कानूनों को बदल कर मजदूरों की निर्मम लूट को बढ़ावा देना, 1991 से पहले के गैरकानूनी काले धन्धों (काला बाजारी, जमाखोरी, सट्टेबाजी, टैक्स चोरी) को कानून बनाकर वैधानिक करार देना इसके चन्द उदहारण हैं। मोदी सरकार ने ऐसे कई कानून बनाये हैं और कई कानूनों पर अभी काम चल रहा है, ताकि भ्रष्टाचार को पवित्र बनाया जा सके। उदहारण के लिए-- 2019 में मोदी सरकार ने कार्पोरेट टैक्स 30 प्रतिशत से घटाकर 22 प्रतिशत कर दिया था, जिससे हर साल हजारों करोड़ का टैक्स बिना चुराये ही पूँजीपतियों की तिजोरी में चला जाता है। श्रम कानूनों में बदलाव और तीन खेती कानून भी मोदी सरकार द्वारा पूँजीवादी लूट और भ्रष्टाचार को कानूनी जामा पहनाने की दिशा में ही बढ़ाया गया कदम है, क्योंकि मजदूरों की छँटनी, तालाबन्दी तथा कृषि उपजों की जमाखोरी, कालाबाजारी और सट्टेबाजी, जो पहले गैरकानूनी और भ्रष्टाचार की श्रेणी में आते थे, अब कानूनी करार दे दिये जायेंगे।

यह सही है कि काला धन सफेद करने से सम्बन्धित भ्रष्टाचार की ये सनसनीखेज घटनाएँ देश, समाज और आम जनता के लिए बहुत ही खतरनाक हैं, और इन पर लगाम लग जाये तो जनता के लिए पहले से बेहतर शिक्षा, चिकित्सा, पीने के लिए साफ पानी, रहने लायक घर और जीने लायक जिन्दगी मिल सकती है और खुद पूँजीवाद की सेहत भी सुधर सकती है। 25,00,000 लाख करोड़ कोई छोटी रकम नहीं है। लेकिन यह रकम उस बुनियादी भ्रष्टाचार, उस "मूल पाप", उस लूट-खसोट के आगे कुछ भी नहीं है, जो पूँजीवाद की जीवन रेखा है, जो मजदूरों के श्रम की चोरी से कमाई जाती है। दिन-रात चलनेवाले इस भ्रष्टाचार को पूँजीपतियों का परम-पावन कर्तव्य मान लिया गया है, इसलिए इस पर कोई विवाद नहीं होता। कला धन और भ्रष्टाचार से होने वाली कमाई इस लूट के आगे ऊँट के मुँह में जीरा के बराबर भी नहीं।

भ्रष्टाचार का असली कारण 'मानव स्वभाव' या लोभ-लालच की आम प्रवृति नहीं हैं, जैसा कि पूँजीवादी पण्डित बताते हैं, बल्कि यह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के चरित्र में निहित है। इसका मूल स्रोत पूँजीपतियों द्वारा अतिरिक्त मूल्य की चोरी है, जिसे श्रमिक पैदा करते हैं।

पूँजीवादी समाज का विश्लेषण करते हुए कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पूँजी" में इस सच्चाई को स्थापित किया है कि पूँजीवाद का अस्तित्व ही भ्रष्टाचार पर टिका हुआ है। मजदूरों के श्रम की चोरी करना, उस चुराये गये श्रम से अपने लिए निजी मुनाफा बटोरना और निजी सम्पत्ति जमा करना ही पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद है। मुनाफे की यही हवस पूँजीपतियों को न केवल मजदूरों के साथ बल्कि पूरी दुनिया के साथ धोखाधड़ी करने तथा लूट-खसोट और भ्रष्टाचार के नये-नये तरीके ईजाद करके दौलत बटोरने के लिए उकसाती है। पूँजीवाद का एक ही उसूल है-- कानूनी या गैरकानूनी तरीकों से जितना ज्यादा और जितनी तेजी से मुनाफा कमा सकते हो, कमाओ!

पूँजीवादी समाज में मजदूरों का निर्मम शोषण इसलिए किया जाता है क्योंकि वे अपने श्रम से जितने माल का उत्पादन करते हैं, उसके कुल मूल्य से काफी कम कीमत पर उन्हें अपनी श्रम शक्ति पूँजीपतियों को बेचने के लिए मजबूर किया जाता है। उत्पादन के साधनों पर मालिकाना न होने के कारण ही मजदूरों के सामने अपनी श्रम शक्ति पूँजीपतियों को बेचने या फिर भूखा रहने के आलावा और कोई रास्ता नहीं होता है। मजदूर अपने श्रम का लाभ खुद नहीं ले पाते, क्योंकि पूँजीपति उनके श्रम का बड़ा भाग चुरा लेते हैं, और उसका इस्तेमाल उनके शोषण और अपने निजी मुनाफे के लिए करते हैं।

पूँजीवाद के अधीन मजदूरों की श्रम शक्ति को भी एक वस्तु, एक माल समझा जाता है, जैसे अनाज या कपड़ा या किसी दूसरी वस्तु की तरह। श्रम शक्ति की कीमत (या मजदूरी) भी किसी दूसरे माल की तरह उसके उत्पादन की लागत से, यानी सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मात्रा से तय होती है। श्रम शक्ति के उत्पादन की लागत किसी मजदूर की श्रम शक्ति को बनाये रखने और उसके पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मूल्य या श्रम-लागत होती है। इसके लिए, पूँजीवाद में मजदूर को सिर्फ जीवन-यापन के लिए न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने भर मजदूरी दी जाती है, उन्हें गुजारे भर की मजदूरी का भुगतान किया जाता है।

कार्य दिवस के दौरान मजदूर अपने खुद के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मूल्य से कहीं अधिक मूल्य पैदा करता है। यानी, बारह घण्टे काम करने के बदले एक मजदूर को जितनी मजदूरी दी जाती है, वह उससे कहीं ज्यादा मूल्य पैदा करता है। काम के घण्टों के दौरान मजदूर जितने मूल्य का उत्पादन करता है और उसकी श्रम शक्ति को बनाये रखने और उसके पुनरुत्पादन के लिए पूँजीपति जितने मूल्य का भुगतान करता है, उसके बीच के अन्तर को अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है।

इस बात को आसानी से समझने के लिए मजदूर के श्रम दिवस को दो भागों में बाँटा जाता है। पहले भाग के दौरान, मजदूर अपने लिए काम करता है, यानी उतनी वस्तुओं का उत्पादन कर

देता है जिसका मूल्य उसे मिलने वाली मजदूरी के मूल्य के बराबर होता है। दूसरे भाग के दौरान, मजदूर पूँजीपति के लिए काम करता है, यानी पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करता है जिसके लिए उसे कोई मजदूरी नहीं मिलती है।

इस तरह मजदूरों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपतियों द्वारा जबरन हड़प लेना ही पूँजीवादी शोषण है। पूँजीवाद में चूँकि मजदूर उत्पादन के साधनों का मालिक नहीं होता, इसलिए उसे मजबूर किया जाता है कि वह अपनी श्रम शक्ति पूँजीपतियों को कम से कम मजदूरी पर बेचे और उसके लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करे। यही अतिरिक्त मूल्य जो मजदूर पैदा करता है और जिसे पूँजीपति हड़प लेता है, पूँजीपति के मुनाफे का स्रोत होता है।

जाहिर है कि मुनाफे का बुनियादी स्रोत और पूँजीवादी उत्पादन की एकमात्र चालक शक्ति, मजदूरों द्वारा पूँजीपति के लिए किया गया मुफ्त श्रम है। इसलिए यह शोषण सबसे घिनौना भ्रष्टाचार है, चरम भ्रष्टाचार है और यही भ्रष्टाचार पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद है।

मार्क्स ने कहा था कि "श्रम को हड़पे जाने का ही नतीजा है कि मजदूर, जिसके सामूहिक उत्पाद का हिस्सा लगातार पूँजीपति द्वारा जब्त किया जाता है, हमेशा अभाव में जीता है, जबकि पूँजीपति हमेशा लाभ में होता है। जो राजनीतिक अर्थशास्त्र, इस व्यवस्था को कायम रखता है और उसकी वकालत करता है, वह चोरी का सिद्धान्त है, सम्पत्ति के प्रति जो आदर भाव इस यथास्थिति को बनाये रखता है, वह जोर-जबरदस्ती का धर्म है।"

पूँजीवाद "निजी सम्पत्ति की पवित्रता" के सिद्धान्त पर आधारित है। लेकिन 'निजी सम्पत्ति' वास्तव में उस अतिरिक्त मूल्य के अलावा और कुछ नहीं है जो पूँजीपतियों द्वारा मेहनतकशों से, मजदूरों से चुरायी जाती है। निजी सम्पत्ति और कुछ नहीं बल्कि श्रमिकों से चुराया गया धन है। पूँजीवादी व्यवस्था में भ्रष्टाचार की असली जड़ यह सच्चाई है कि पूँजीवाद निजी सम्पत्ति की चोरी है, जो चरम भ्रष्टाचार है! काला धन और टैक्स चोरी तो इस लूट के माल को छिपाने और खपाने की धूर्ततापूर्ण चालें हैं।

हमें अपने आक्रोश का निशाना और अपनी कार्रवाइयों का लक्ष्य भ्रष्टाचार के इस बुनियादी स्रोत, पूँजीवादी व्यवस्था में दिन-रात होने वाले चरम शोषण, घृणास्पद भ्रष्टाचार पर केन्द्रित करना होगा जो हमारे देश-समाज की सभी असाध्य बीमारियों, बहुसंख्य मेहनतकश जनता के सभी दुःख-तकलीफों और कंगाली-बदहाली, चतुर्दिक सामाजिक पतन, मानव सभ्यता और प्रकृति की तबाही का असली कारण है। इसका एकमात्र विकल्प है-- न्याय-समता पर आधारित समाजवादी समाज का निर्माण, जो मुमकिन है, जरूरी है और लाजिमी है।

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 39 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाये या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 39 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 4 अंकों की सहयोग राशि 150 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 2000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।

नाम : मोहित कुमार
मोबाइल नं. 8755762077
AC. No. : 30456084252
IFSC : SBIN0002292
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (एसबीआई),
एलम, शामली, उत्तर प्रदेश

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली नं. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032

पण्डोरा पेपर्स

-- राजेश कुमार

पण्डोरा पेपर्स क्या हैं?

पण्डोरा पेपर्स में दुनियाभर के ऐसे लोगों का लेखा-जोखा है जिन्होंने अपने देश में टैक्स से बचने के लिए सम्पत्ति को अपनी पहचान छुपाकर टैक्स बचत का स्वर्ग कहे जाने वाले देशों में रखा। पहले भी 2016 में पनामा पेपर्स में इस तरह का खुलासा हो चुका है। उसके बाद 2017 में पैराडाइज पेपर्स में भी दुनियाभर के अमीरों द्वारा छुपायी गयी सम्पत्ति का ब्यौरा मिला था। पण्डोरा पेपर्स में दो सौ देशों के अमीरों का विवरण है। इसमें दुनियाभर से सैकड़ों राजनीतिज्ञ, फोर्ब्स पत्रिका की सूची में शामिल सौ से ज्यादा अरबपति, सेलिब्रिटीज, ड्रग माफिया, रॉयल फैमिली और धार्मिक गुरु लिप्त हैं। इतना ही नहीं, इसमें कई देशों के पूर्व राष्ट्रपति और मौजूदा राष्ट्रपतियों के भी नाम हैं। बड़े सरकारी अधिकारी, प्रधानमंत्री, जज, मेयर और सेनाध्यक्ष तक शामिल हैं। इस जालशाजी का खुलासा करने के लिए 117 देशों से, छः सौ से ज्यादा पत्रकार इस अभियान में शामिल रहे। "खोजी पत्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संघ" ने एक करोड़ बीस लाख दस्तावेज इकट्ठा किये। ये दस्तावेज अंग्रेजी, स्पेनी, रूसी, फ्रांसीसी, अरबी और कोरियाई भाषा में हैं। दस्तावेजों की संख्या इतनी ज्यादा है कि अभी पण्डोरा पेपर्स का सम्पूर्ण विश्लेषण आने वाले वक्त में ही सम्भव हो पायेगा। लेकिन अब तक हुए खुलासे और रिपोर्टों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि दुनिया के अमीर इस धरती की सम्पदा को लूटने और अपनी तिजोरियाँ भरने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे।

कौन अपनी सम्पत्ति छुपाते हैं?

पूँजीपतियों में भी मुख्यतः दो चरित्र हैं-- पहला, वे जो पूँजी को विभिन्न उद्योगों में निवेश करते हैं और मुनाफा कमाते हैं। ये पूँजी को लेकर कुछ हद तक साहसी और निडर होते हैं। दूसरा, वे जिन्हें पूँजी के खोने का डर होता है। यह डर कई वजह से पैदा होता है जैसे सरकार के स्थायित्व पर भरोसा न हो या सम्पत्ति के लूट लिये जाने का खतरा हो आदि। इन्हें उसी सरकार पर भरोसा नहीं होता जिसमें यह खुद शामिल होते हैं, उसी व्यवस्था से डर लगता है जिसमें रहकर इन्होंने अकूत सम्पत्ति कमाई है। इस दूसरी केटेगरी में अधिकतर नेता, अभिनेता, सेलिब्रिटीज, धार्मिक गुरु और वित्तीय कारोबार करने वाले पूँजीपति होते हैं। इनके अन्दर परजीवीपन ज्यादा होता है। इसलिए ये अपनी पूँजी को अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में निवेश करने के बजाय एक हिस्सा कहीं सुरक्षित रखना चाहते हैं। इन्हें ऐसी जगहों की तलाश होती है जहाँ ये अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रख सकें, इनकी पहचान भी न हो और टैक्स से भी बच जाएँ। इसी का परिणाम है कि यूनाइटेड किंगडम में डेढ़ हजार से ज्यादा सम्पत्तियाँ अवैध तरीके से खरीदी गयीं।

यह कैसे सम्भव है?

अपने देश से सुरक्षित तरीके से रुपये और सम्पत्ति को सीमा से बाहर निकालने के लिए ऑफशोर कम्पनियों के जाल बिछे हैं। ये कम्पनियाँ अपने ग्राहक के लिए विदेशों में सारे इन्तजाम करती हैं। उनके नाम-पते बदलना, पहचान गुप्त रखना जैसे कामों में विशेषज्ञ कम्पनियाँ सहयोग करती हैं। इन कम्पनियों के असली मालिकों की पहचान छुपा ली जाती है। कॉर्पोरेट टैक्स के लिए स्वर्ग कहे जाने वाले देशों में यह बहुत सामान्य है। कई देशों के कानून इतने लचीले हैं कि वे नयी कम्पनी खुलने पर ज्यादा जाँच पड़ताल नहीं करते और डायरेक्टर्स की पहचान को भी गुप्त रहते हैं। पूँजीपतियों के लिए इस धरती पर ऐसे स्वर्ग केमैन आइलैण्ड, ब्रिटिश वर्जिन आइलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड और सिंगापुर हैं। पण्डोरा पेपर्स के खुलासे के बाद अमरीका में स्थित दक्षिणी डकोटा भी नये टैक्स स्वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया है।

विदेशों में क्या वे सिर्फ रुपये छुपाते हैं?

नहीं। सिर्फ रुपया ही नहीं। इन सम्पत्तियों में बंगले, होटल, फार्महाउस और तरह-तरह के अय्याशी के साधन भी होते हैं। वे अपनी शेल कम्पनी खोलते हैं। शेल कम्पनी ऐसी हवाई कम्पनी होती है जिसका न कोई ऑफिस होता है न कोई कर्मचारी। धनी लोग ऐसी कम्पनी में बेशकीमती चीजें परिसम्पत्ति के रूप में रखते हैं। कम्पनी का बैंक खाता होता है। उसके डाइरेक्टर्स होते हैं। इसमें नगद रुपया से लेकर, कम्बोडिया से लूटी गयी प्राचीन मूर्तियाँ, पिकासो की पेंटिंग और ब्रिटिश कलाकार बैंग्सी के भित्ति

चित्र तक शामिल हैं।

अलग अलग राष्ट्रों का इन्हें लेकर क्या रुख है?

अभी ज्यादातर देश के शासक और मीडिया में पण्डोरा पेपर्स को लेकर चुप्पी साधे हुए हैं या घिसे-पिटे जवाब दे रहे हैं-- जैसे "जाँच होगी, दोषियों पर कार्रवाई होगी, अभी टिप्पणी नहीं कर सकते" आदि आदि। क्योंकि ज्यादातर देशों से या तो सरकार में शामिल लोगों के नाम पण्डोरा पेपर्स में हैं या उनके चहेते लोगों के।

खुद अमरीका के लिए पण्डोरा पेपर्स ने चुनौती खड़ी कर दी है। अमरीकी राष्ट्रपति ने दावा किया था कि वे वैश्विक वित्तीय व्यवस्था में पारदर्शिता लाने पर जोर देंगे। इन पेपर के लीक होने के बाद अमरीका खुद ही टैक्स से बचने के मामलों में स्वर्ग के रूप में सामने आया है। तमाम तरह के आर्थिक अपराधों में लिप्त सैकड़ों लोगों ने अमरीका के दक्षिणी डकोटा में अरबों डॉलर जमा किया है।

पण्डोरा पेपर्स की वजह से केन्या के राष्ट्रपति उहुरू केन्यट्टा के सामने धर्म संकट आ खड़ा हुआ है। उन्होंने खुद को भ्रष्टाचार के दुश्मन के रूप में पेश किया था। 2018 में बीबीसी को दिये एक इण्टरव्यू में उन्होंने जोर देकर कहा था कि "सभी सरकारी अधिकारियों को अपनी सम्पत्ति का ब्यौरा जनता के सामने सौंपकर पारदर्शिता लानी चाहिए।" अब खुलासा हुआ है कि इन्होंने अपने रिश्तेदारों के संग तीन करोड़ डॉलर विदेशों में जमा किये हैं। सवाल पूछने पर अभी इन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है। यही हाल चेक गणराज्य के प्रमुख का है। पाकिस्तान में इमरान सरकार के एक महत्वपूर्ण मंत्री मूनिस इलाही ने सिंगापुर स्थित एक कम्पनी से 33 करोड़ डॉलर निवेश करने के लिए सम्पर्क किया।

एशिया, लातिन अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, यूरोप, कोई भी पण्डोरा पेपर्स से बच नहीं पाया। ये बात भी ठीक है कि पण्डोरा पेपर्स में नाम आने भर से कोई अपराधी साबित नहीं हो जाता। हाँ, उसकी सम्पत्ति शक के दायरे में जरूर आती है। क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था सम्पत्ति की रक्षक होती है। उसे निजी सम्पत्ति से कोई एतराज नहीं। पूँजीवादी व्यवस्था में संविधान और कानून के हिसाब से सम्पत्ति के ऊपर टैक्स देना अनिवार्य है। दलाल किस्म के पूँजीपति इसी में हेराफेरी करते हैं। वे कानूनों का उल्लंघन करके या वकीलों की मदद से बारीकियों का फायदा उठाकर टैक्स से बचने में कामयाब हो जाते हैं। पण्डोरा पेपर्स में नाम आने पर भी ज्यादातर सेलिब्रिटीज, नेता और अफसरों ने किसी भी तरह की टिप्पणी से इनकार किया है। उनके वकील ही प्रवक्ता बने हुए हैं। वे कह रहे हैं कि हमारा क्लाइण्ट निर्दोष है, उसने फलाँ-फलाँ कानून के हिसाब से अपनी सम्पत्ति को विदेश में सुरक्षित किया है। भारत रत्न सचिन तेन्दुलकर का नाम पनामा पेपर्स में भी था और अब पण्डोरा पेपर्स में भी है। उनके वकील भी उन्हें बेकसूर बता रहे हैं।

पण्डोरा पेपर्स में भारत के तीन सौ से ज्यादा लोग शामिल हैं। जिनमें सचिन तेन्दुलकर, जैकी श्रॉफ, नीरा राडिया, अनिल अम्बानी, विनोद अडानी और सतीश शर्मा जैसे नाम प्रमुख हैं।

अनिल अम्बानी भारत में दिवालिया घोषित हैं और विदेश में 1.3 अरब डॉलर की कम्पनियाँ चला रहे हैं। यानी कि यहाँ उनकी कर्ज चुकाने की हैसियत नहीं और विदेशों में वे अरबों के मालिक हैं। इसीलिए देश में दिवालिया घोषित पूँजीपति विदेशों में जाकर अपने अड्डे जमाते हैं।

एक आम नागरिक इससे कैसे प्रभावित होता है?

देश में पैदा हुई पूँजी को चोरी छिपे देश से बाहर ले जाने के अर्थव्यवस्था पर बहुत व्यापक और गहरे प्रभाव पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, पिछले दिनों लोगों ने अपनी बचत का पैसा भवन निर्माण कम्पनी ईरीओ (आईआरईओ) में निवेश किया। इस उम्मीद से कि एक दिन उन्हें अपना फ्लैट मिलेगा। एक्सोन कैपिटल और चिल्ड्रन्स फण्ड फाउण्डेशन जैसी संस्थाओं ने अरबों रुपये प्रोजेक्ट में झोंक दिये। फिर भी ईरीओ घाटे में रही। 2018-19 में इसका घाटा पाँच अरब रुपये था। लेकिन इसके मालिक ललित गोयल बीजेपी नेता सुधांशु मित्तल के साले हैं। मिस्टर गोयल ने पाँच अरब रुपये से ज्यादा की सम्पत्ति चार कम्पनियों के माध्यम से विदेशों में चोरी छिपे निवेश कर रखी है। इनका पसन्दीदा टैक्स हैवन है-- ब्रिटिश वर्जिन आइलैण्ड। पण्डोरा पेपर्स में मिले दस्तावेजों के हिसाब से इनका रिहाइशी पता है-- मैरिना बे रेसिडेन्सीज, 18 मैरिना, बुलेवार्ड, 45-08, सिंगापुर। इस तरह एक पूँजीपति की मुनाफे की सनक से कम्पनी दिवालिया घोषित हुई। एक तो लोगों की बचत डूब गयी, दूसरा, कोर्ट-कचहरी के चक्कर में लोगों का वक्त और पैसा बर्बाद हुआ, सो अलग। सरकार को टैक्स का चूना भी लगा। कम्पनी में काम कर रहे लोगों की नौकरी छूट गयी। कुल मिलाकर इसने व्यवस्था के संकट को और बढ़ा दिया।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार इस तरह की सम्पत्ति का अनुमान लगाया गया है। ऐसी अवैध सम्पत्ति 6 खरब डॉलर से लेकर 32 खरब डॉलर तक हो सकती है। इससे दुनियाभर की सरकारों को टैक्स में छह सौ अरब डॉलर का नुकसान होता है। अमरीका और चीन की जीडीपी मिलकर भी 32 खरब डॉलर नहीं हैं। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि दुनियाभर के अमीरों

ने कितनी भारी तादाद में सम्पत्ति को चोरी छिपे जमा कर रखी है।

सरकारों को चूना लगाने वाले अब तक बचे हुए क्यों हैं?

वे अब तक बचे हुए हैं क्योंकि वे खुद नेता हैं, मंत्री हैं या रसूखदार लोग हैं। इसमें शामिल सभी लोग पूँजीवादी व्यवस्था का हिस्सा हैं। पूँजीवादी व्यवस्था असमानता के लिए कुख्यात है। जिन देशों में यह व्यवस्था लागू हुई वहाँ आर्थिक गैर बराबरी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी। दुनियाभर में एक तरफ अरबपतियों की संख्या बढ़ रही है दूसरी ओर भुखमरी, कंगाली और बेरोजगारी भी अपनी चरम सीमाओं को पार कर रही हैं। ऐसे में वे खुद को असुरक्षित महसूस करते हैं। इसलिए सुरक्षित ठिकानों में पनाह ढूँढते हैं। असल में जिस धन-दौलत का इस्तेमाल इस धरती से भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा, कुपोषण, और गरीबी मिटाने के लिए होना चाहिए था, उसका बहुत बड़ा हिस्सा चन्द अमीर घराने तिजोरियों में रखे बैठे हैं। ऐसे अपराधियों को जिन्हें जेल में ठूँस देना चाहिए उनसे वे खुद गलबाँही करते हैं। उनसे विदेश में रुपये भेजने की तरकीब पूछते हैं। आपस में सब मौसेरे भाई हैं। इसलिए बचे हुए हैं।

पण्डोरा पेपर्स ने एक बार फिर यह साबित कर दिया है कि दुनिया के पूँजीपति एक हैं। मानो वे आह्वान कर रहे हैं-- दुनिया के अमीरो एक हो जाओ। तुम्हारे पास लूटने के लिए यह धरती है। अपनी तिजोरियाँ भर लो और इसे नरक बना दो। नकारात्मक अर्थ में ही सही यह कार्ल मार्क्स के उस आह्वान की याद दिलाती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि दुनिया के मजदूरों एक हो। जब तक दुनिया के मजदूर एकजुट नहीं होते और पूँजीपतियों के शोषण और लूट के खिलाफ लड़ते नहीं, तब तक यह सब जारी रहेगा और दुनिया को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी।

फासीवाद का काला साया

--प्रभात पटनायक

नागरिक स्वतंत्रताओं पर हमले, सत्ता के घनीभूत केन्द्रीकरण के लिए राज्य के पुनर्गठन और भय के सर्वव्यापी प्रसार के मामले में मोदी के शासन के वर्ष इन्दिरा गाँधी द्वारा लगायी गयी इमरजेंसी के समान ही हैं। लेकिन समानता यहीं खत्म हो जाती है। दरअसल, दोनों में कई तरह की बुनियादी असमानताएँ हैं।

पहली, इमरजेंसी के समय लोगों को आतंकित करने और उन्हें "राष्ट्रवाद" का पाठ पढ़ाने के लिए पीट-पीटकर मार डालने वाली हिंसक-उन्मादी भीड़ और गली के गुण्डे नहीं थे। तब राज्य खुद ही लोगों का दमन कर रहा था। लेकिन आज हिन्दुत्व के लफंगे गिरोह भी सरकार के आलोचकों को उनके "तुच्छ जुर्मों" के लिए माफी माँगने के लिए मजबूर कर रहे हैं। इसके अलावा, इन भयाक्रान्त आलोचकों के सिर पर गिरफ्तारी की तलवार भी लटकी हुई है। कोई उस बेचैन करने वाले दृश्य को कैसे भूल सकता है जिसमें एक प्रोफेसर को फेसबुक पोस्ट में सरकार की आलोचना करने के लिए अपने घुटनों पर गिरकर माफी माँगने के लिए मजबूर किया गया।

एक नया राष्ट्रवाद

दूसरा फर्क है, इमरजेंसी के विपरीत मौजूदा दमन "राष्ट्रवाद" की विचारधारा का सहारा लेता है जिसकी व्याख्या वह हिन्दुत्व के समानार्थी के रूप में करता है। लेकिन अवसरवादी तरीके से वह भारत के उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की साख को भुनाने की कोशिश करता है, इसके बावजूद भी कि दोनों के बीच कोई समानता नहीं है। परिणामस्वरूप, जहाँ इन्दिरा गाँधी का दमन (उसके न चाहते हुए भी) उसके विरोधियों को सम्माननीय बना रहा था, वर्तमान सरकार दमन के साथ-साथ एक साजिश के तहत उन्हें अपमान के योग्य "जनता के दुश्मन" के रूप में पेश कर रही है। उनको बदनाम करने की यह साजिश तब और गहरी हो जाती है जब राज्य की संस्थाएँ सरकार के इन विरोधियों पर "भ्रष्टाचार" और तरह-तरह के "गलत कामों" के आरोप मढ़ने लगती है -- इस सबका एक ही मकसद है जनता के बीच उनकी नैतिक साख को मिट्टी में मिला देना।

तीसरा फर्क है सरकार का मीडिया पर कब्जा। इमरजेंसी के दौर में अखबारों में खबर छपने से पहले उनकी जाँच की जाती थी, जिसके विरोध में अखबारों ने अपने पेज खाली छोड़ने शुरू कर दिये, जिसके चलते लोगों की नजर में उनकी साख दरअसल और बढ़ गयी। लेकिन आज, कुछ सम्मान के योग्य अपवादों को छोड़कर, जो शायद बहुत लम्बे समय तक ऐसे न रह पायें, पूरा का पूरा मीडिया हिन्दुत्व के खेमे में खड़ा है और विरोधियों की नैतिक साख को मटियामेट करने का काम मीडिया की मिलीभगत के कारण और भी आसान हो गया है।

मीडिया की इस बदली हुई भूमिका का सम्बन्ध तब और अब के बीच चौथे अन्तर से है-- मोदी सरकार पूरी तरह से निगमों के हितों के साथ खड़ी है जबकि इन्दिरा गाँधी के शासनकाल में निगमों के

साथ न सिर्फ दूरी बनाकर रखी गयी बल्कि उसकी निगम विरोधी प्रगतिशील छवि गढ़ी गयी। दरअसल आजादी के बाद के भारत में कोई भी सरकार निगमों के इतनी करीब नहीं थी जितनी की मोदी सरकार है। प्रधानमंत्री पद की शपथ के लिए अडानी के हवाई जहाज में बैठकर दिल्ली आना इसका एक उदाहरण है। इसके बरक्स यह याद करने लायक उदाहरण है कि हिन्दुत्व ब्रिगेड की घृणा के पात्र जवाहर लाल नेहरू जब आर्थिक तंगी के चलते स्विट्जरलैण्ड के सेनीटोरियम में टीबी से मर रही अपनी पत्नी कमला नेहरू से मिलने नहीं जा पा रहे थे तो घनश्याम दास बिड़ला ने उन्हें आर्थिक सहायता देने की पेशकश की थी जिसे उन्होंने ठुकरा दिया और अपने खुद के प्रयासों से किसी तरह धन जुटाया।

अल्पसंख्यक विरोधी

पाँचवा फर्क है अल्पसंख्यकों, खासकर अभागे मुसलमानों के खिलाफ रवैया। इन्दिरा गाँधी के दमन का निशाना किसी खास नर-कुल या धर्म-सम्प्रदाय या जाति के लोग नहीं थे। वह सीधा और साफ दमन था जिसके निशाने पर उसके और उसके बेटे संजय गाँधी के विरोधी थे, जो अपने छल के लिए कुख्यात था। इसके अलावा उसके पास इतिहास के पुनर्लेखन की ऐसी कोई विराट परियोजना भी नहीं थी जिसमें एक खास धार्मिक समुदाय को बदनाम करने वाले कथानक गढ़े जायें और फिर राज्य सत्ता का इस्तेमाल करके उन्हें जबरन स्कूल के बच्चों तक के गले से नीचे उतारा जाये और इस तरह बचपन से ही एक अलग धर्म को मानने वाले अपने ही देशवासियों के खिलाफ नफरत के बीज बो दिये जायें।

छठा फर्क, अनिवार्यतः इसी परियोजना से जुड़ा हुआ है-- अतार्किकता को बढ़ावा देना, तार्किक बहस के ऊपर आस्था को तरजीह देना, साक्ष्यों और यहाँ तक कि दलीलों की आन्तरिक सुसंगति के प्रति हिकारत पैदा करना। ये लम्बे समय से संघ की कार्यप्रणाली को परिभाषित करने वाली विशेषताएँ रही हैं लेकिन अब ये आधिकारिक सरकारी विमर्श को अपनी चपेट में ले चुकी हैं, यहाँ तक कि भारतीय-विज्ञान कांग्रेस भी खुद को इस विमर्श के चंगुल से मुक्त करा पाने की स्थिति में नहीं रह गयी है।

सातवाँ अन्तर है, मोदी सरकार द्वारा संस्थाओं के विनाश की शुरुआत, जो खासकर, सरकारी विश्वविद्यालयों और सरकारी सहायता से चलने वाले शिक्षा के दूसरे केन्द्रों के बारे में सही है। ये सभी संस्थाएँ "इधर कुआँ तो उधर खाई" की स्थिति में फँसी हैं। अगर वे सरकार की बात मानकर अपने पाठ्यक्रम और तौर-तरीकों में बदलाव करती हैं तो वे बौद्धिक तौर पर मृतप्राय हो जायेंगी क्योंकि बौद्धिक उत्तरजीविता के लिए आलोचनात्मक विचारों की स्वतंत्रता अपरिहार्य होती है। लेकिन अगर वे स्वतंत्र और आलोचनात्मक चिन्तन को कायम रखने पर अड़ी रहती हैं, तो उन्हें सरकारी सहायता के लिए तरसाया जायेगा और जेएनयू की तरह उन पर "राष्ट्रविरोधी" उपद्रवी तत्वों को प्रश्रय देने के आरोप लगाये जायेंगे। यह हमारे दौर की विडम्बना है कि जेएनयू से लेकर हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पुणे फिल्म संस्थान, टाटा इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइंसेज और टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेण्टल रिसर्च तक, देश के कई बेहतरीन संस्थान आज साँस लेने के लिए हाथ-पैर मार रहे हैं। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ, पहले की किसी भी सरकार ने विचारशीलता को इतना तिरस्कृत नहीं किया।

दमन

मोदी सरकार और इमरजेंसी के दौर के बीच के फर्क का सार यह है कि इमरजेंसी समाज पर या व्यापक जनता पर राज्य द्वारा थोपी गयी एक तानाशाही थी, जिसका उस समय तक बहुत ज्यादा केन्द्रीकरण हो चुका था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह पूँजीवादी विकास के तर्क और राजनीति के लोकतान्त्रिक स्वरूप के बीच के अन्तरविरोध का नतीजा थी, लेकिन वह निगमों का प्रत्यक्ष शासन नहीं थी। लेकिन मोदी शासन के साल न सिर्फ एक बेहद केन्द्रीकृत हो चुके राज्य द्वारा समाज पर तानाशाही थोपने के गवाह हैं बल्कि, वे समाज के एक हिस्से को दूसरे के खिलाफ खड़ा करने और उनमें नफरत की आग भड़काने को पंथ बना डालने के भी गवाह हैं, जिनके पीछे छिपकर राज्य सीधे निगमों के हितसाधन में लगा रहता है। एक शब्द में कहें तो, यह तानाशाही और फासीवाद के बीच का फर्क है। दमन के आँकड़े, मसलन कितने लोगों को जेल में डाला गया, इमरजेंसी के वक्त बहुत बुरे थे लेकिन दमन की जो सम्भावना आज पैदा की जा रही है, वह पहले से कहीं ज्यादा व्यापक और गहरी है।

मोदी के शासन काल की ऊपर जो भी विशेषताएँ गिनायी गयी हैं, वे दरअसल फासीवाद की विशिष्टता हैं-- हिँसक भीड़, "राज्य सत्ता और निगमों का एकाकार" हो जाना (जिसे मुसोलिनी की फासीवाद की परिभाषा माना जाता है), असहाय अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना, अतार्किकता को बढ़ावा देना, विश्वविद्यालयों का विनाश, इत्यादि। ऐसा कहने का कतई यह मतलब नहीं है कि इतिहास 1930 के दशक को फिर से दोहरायेगा। सत्ता में फासीवादी तत्व जरूर मौजूद हैं लेकिन राज्य अभी फासीवादी राज्य नहीं बना है और क्योंकि आज परिस्थितियाँ 1930 के दशक से बहुत अलग हैं, इसलिए ऐसा होने की सम्भावना नहीं लगती।

यह पक्की बात है कि 1930 के दशक की तरह फासीवाद की ओर खिसकने की मौजूदा प्रवृत्ति, जो केवल भारतीय नहीं बल्कि वैश्विक परिघटना है, पूँजीवाद के गहरे संकट का परिणाम है। इस तरह का संकट अपने साथ चन्द निगमों और वित्तीय पूँजीपतियों

के कुलीनतंत्र के वर्चस्व के लिए खतरा लेकर आता है, जिसे बचाये रखने के लिए वे एक और सहारे की तलाश में रहते हैं जिसे व्यवस्था की खामियों पर से लोगों का ध्यान हटाने के लिए बलि का बकरा बनाया जा सके। यह "दूसरा" काल्पनिक खतरा कुछ अभागे अल्पसंख्यक होते हैं जिन्हें लोगों के गुस्से का निशाना बनाया जा सकता है। ऐसी स्थितियों में कारपोरेट पूँजी कुछ "श्रेष्ठतावादी" सीमान्त समूहों (अति आधुनिक समाजों में भी अल्पसंख्यकों के खिलाफ घृणा फैलाने वाले ऐसे समूह पाये जाते हैं) को चुनकर भारी वित्तीय समर्थन के बल पर उन्हें राजनीतिक पटल के केन्द्र में धकेल देती है, और इस तरह विख्यात पोलिश अर्थशास्त्री माइकल कलेकी के शब्दों में "नवोदित फासीवाद के साथ बड़े व्यवसाय की साझेदारी" अस्तित्व में आती है।

यही भारत में भी हुआ है। विश्व अर्थव्यवस्था में 2008 के बाद से लगातार ठहराव बना हुआ है जिसके चलते नवउदारवादी पूँजीवाद सम्भावनाहीन होता जा रहा है। मोदी का मौजूदा राजनीतिक महत्व इस बात में निहित है कि उसने बड़े व्यवसाय और हिन्दुत्ववादी भीड़ के बीच इस साझेदारी को प्रभावी बनाने में प्रमुख भूमिका निभायी है।

तथापि 1930 के दशक और आज के बीच एक बुनियादी फर्क है जो इस तथ्य में निहित है कि तत्कालीन पूँजीवादी देशों के कारपोरेट-वित्तीय कुलीनतंत्र राष्ट्र-आधारित थे और दूसरे देशों के वैसे ही कुलीनतंत्रों से उनका तीखा झगड़ा था। फासीवाद के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ सैन्यवाद का गुणगान ऐसी स्थिति में अपरिहार्यतः युद्ध की ओर ले जाता है।

इसके दो नतीजे हुए-- पहला, युद्ध की तैयारी के लिए सैनिक खर्चों में बढ़ोत्तरी, जिसके लिए मुख्यतः सरकार ने उधार लेकर वित्त का प्रबन्ध किया, जिसके चलते फासीवादी देश तेजी से महामन्दी और उससे जुड़ी आम बेरोजगारी के संकट से बाहर निकल गये (सबसे पहले जापान 1931 में बाहर निकला और उसके बाद 1933 में जर्मनी); इस तरह युद्ध की तबाही और महामन्दी से उबरने के बीच एक छोटा सा अन्तराल था जिस बीच फासीवादी सरकार दरअसल काफी ज्यादा लोकप्रिय हो गयी थी क्योंकि उसने बेरोजगारी पर विजय पा ली थी। दूसरा परिणाम था, युद्ध के जरिये फासीवाद द्वारा खुद को स्वाहा कर डालना। निस्सन्देह फासीवाद के इस विलोप की भारी कीमत चुकानी पड़ी, लेकिन इसका मतलब था-- फासीवाद का सफाया।

इसके बरक्स आज हमारे सामने ऐसे कोई कारपोरेट-वित्तीय कुलीनतंत्र मौजूद नहीं हैं, जिनके बीच तीखी प्रतिद्वंद्विता हो। वे सभी वैश्विक पूँजी के ढाँचे में फिट हो चुके हैं, जो नहीं चाहती है कि दुनिया युद्ध के जरिये अलग-अलग "आर्थिक इलाकों" में विभक्त हो जाये। इसके बजाय वह ऐसी दुनिया की हामी है, जो पूँजी के लिए, खासकर वित्तीय प्रवाह के लिए खुली हो। इससे युद्ध की सम्भावना खत्म हो गयी है, ऐसा नहीं है। लेकिन आज के युद्ध नेतृत्वकारी ताकतों द्वारा उन राज्यों के खिलाफ चलाये जा रहे हैं जो या तो वैश्विक वित्तीय पूँजी के वर्चस्व के दायरे से बाहर हैं या फिर उसको चुनौती दे रहे हैं।

इसी प्रकार, क्योंकि वित्तीय पूँजी वित्तीय घाटे को नापसन्द करती है और क्योंकि किसी भी राष्ट्र राज्य में वैश्विक वित्तीय पूँजी का दबदबा कायम रहना चाहिए (अन्यथा वह एक साथ देश से उड़नछू हो जायेगी और विकट वित्तीय संकट पैदा कर देगी) इसलिए सरकारी खर्च बढ़ाकर, यहाँ तक कि सैन्य खर्चों में बढ़ोत्तरी के जरिये भी, वित्तीय घाटे को पाटा नहीं जा सकता। न ही पूँजीपतियों पर टैक्स बढ़ाकर इसकी भरपाई की जा सकती है, क्योंकि स्पष्ट तौर पर वित्तीय पूँजी इसका विरोध करेगी। लेकिन केवल यही तरीके हैं जिनके जरिये रोजगार बढ़ाने वाले सरकारी खर्चों के लिए वित्त जुटाया जा सकता है (अगर मजदूरों पर टैक्स लगाकर वित्त जुटाया जाता है तो इससे मालों की सकल माँग में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी क्योंकि मजदूरों की अधिकांश आय खाने-पीने पर ही खर्च हो जाती है)। इस तरह समकालीन फासीवाद नवउदारवादी पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी बेरोजगारी की समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ है। और कारपोरेट पूँजी द्वारा वित्तपोषित होने के कारण यह नवउदारवादी पूँजीवाद को भी चुनौती नहीं दे सकता।

इसका मतलब है-- न तो वह मेहनतकश लोगों के जीवन की भौतिक परिस्थितियों को बेहतर बनाकर राजनीतिक वैधता हासिल कर सकता है, और न ही वह पुराने फासीवादी दौर की तरह युद्ध के जरिये खुद की अलग पहचान बना सकता है। न ही वह पूरी तरह से संसदीय चुनाव संस्था से किनारा कर सकता है, क्योंकि वे चुनाव ही हैं जिनके जरिये वैश्विक वित्तीय पूँजी के वर्चस्व को बेशकीमती वैधता हासिल होती है। (यह महत्वपूर्ण बात है कि आज लातिन अमरीका में सत्ता में आयी जिन प्रगतिशील सरकारों के खिलाफ हम तख्तापलट होते देख रहे हैं, वे वही हैं जिन्होंने नवउदारवादी नीतियों को छोड़ने का साहस दिखाया था। लेकिन ये तख्तापलट, संसदीय तख्तापलट हैं जिन्हें लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर अंजाम दिया गया है। ये पहले के सीआईए प्रायोजित उन तख्तापलट जैसे नहीं हैं जिनके जरिये ईरान में मुसादेह या ग्वाटेमाला में अरबेंज या चिली में अलेन्दे को हटाया गया था।

यही वह सन्दर्भ है जिसके तहत एक बेहद क्षीण सम्भावना है कि चुनावी प्रक्रिया में अनुचित हस्तक्षेप और चर्चा के केन्द्र से

भौतिक जीवन के मुद्दों को हटाकर कट्टर युद्ध-प्रिय राष्ट्रवाद को ले आने, जो मौके-ब-मौके होने वाले आतंकवादी हमलों के चलते सम्भव हो पाता है, (यहाँ आतंकवाद और राज्यसत्ता में मौजूद फासीवादी तत्वों के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते को समझने की जरूरत है, जिनमें से हरेक, दरअसल, दूसरे को खुराक प्रदान करता है) के बावजूद मोदी सरकार लोकसभा चुनाव में हार सकती है। लेकिन उसके बाद जो भी सरकार बनेगी, अगर वह किसानों और समाज के दूसरे मेहनतकश तबकों को परेशानी से निकालने के लिए नवउदारवादी नीतियों से किनाराकशी नहीं करती, तो वह भी कुछ समय के बाद आम समर्थन खो देगी। परिणामस्वरूप अगले चुनाव में फिर से फासीवादी तत्व जीतकर सत्ता में आ जायेंगे।

समाज का फासीवादीकरण

इस तरह सरकार बनाने के मामले में दोलन जैसी स्थिति बनी रहेगी। फासीवादी तत्व कभी खत्म नहीं होंगे बल्कि इसके विपरीत इन दोलनों के जरिये वे समाज और राजनीति का उत्तरोत्तर फासावादीकरण करते जायेंगे। उदाहरण के लिए, जिस तरह भाजपा को हराकर मध्यप्रदेश की सत्ता सम्भालने वाली कांग्रेस पार्टी की सरकार उसका अनुसरण करते हुए हिन्दुत्व के आधार पर समर्थन जुटाने की कोशिश कर रही है, (और बाद में जिस तरह कांग्रेस को तोड़ कर वापस भाजपा सत्ता में आयी) वह इस परिघटना का एक उदाहरण है कि किस तरह सरकार बनाने की प्रक्रिया में होने वाले दोलनों के चलते धीरे-धीरे समाज का फासीवादीकरण हो रहा है।

संक्षेप में, समय के साथ उन फासीवादी तत्वों के दबाव के चलते हम समाज का फासीवादीकरण होते देख सकते हैं जो वास्तव में सत्ता में हों, या उसके बाहर हों, ताकतवर बने रहेंगे। यह फासीवादीकरण का एक ऐसा मामला होगा जिसमें समाज के ऊपर, दरअसल, 1930 के दशक के शास्त्रीय तरीके का कोई फासीवादी राज्य नहीं थोपा गया होगा, बल्कि यह एक तरह के 'स्थायी फासीवाद' का मामला होगा, जो तब तक कायम रहेगा जब तक कि फासीवाद को पैदा करने वाली परिस्थितियों का ही उन्मूलन न कर दिया जाये।

यह संयोग नवउदारवादी संकट का ही एक रूप है। भारत में इस फासीवादीकरण का प्रभावी ढंग से मुकाबला करने के लिए जरूरी है कि नवउदारवादी पूँजीवाद के वर्तमान शासनकाल के परे जाकर सोचा जाये जो एक अन्धी बन्द गली में फँस गया है और पूरी दुनिया को संकट में घसीट चुका है, जहाँ से बाहर निकलने का कोई रास्ता अमरीका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प तक को दिखायी नहीं दे रहा है-- व्यापार प्रतिबन्ध लगाने के सिवाय (जो नवउदारवाद के कुछ-कुछ नकार जैसा है)। मौजूदा नवउदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था में किसी तरह की सेंध तभी लगायी जा सकती है जब मेहनतकश आबादी के जीवन की भौतिक दशाओं में फौरी सुधार के लिए कोई कार्ययोजना बनायी जाय।

यह सब कहने का कतई यह अर्थ नहीं है कि आने वाले लोकसभा चुनावों में हिन्दुत्ववादी ताकतों की हार सुनिश्चित करना और इसके लिए तमाम धर्म-निरपेक्ष ताकतों की एकता कायम करना किसी भी तरह से कम महत्वपूर्ण है। लेकिन जबकि यह हमारे समाज और राजनीति के फासीवादीकरण को रोकने की दिशा में उठाया गया पहला कदम है, इसको पूरी तरह से रोकने के लिए इससे कहीं ज्यादा की दरकरार होगी। सर्वोपरि, इसके लिए एक ऐसे कार्यक्रम की जरूरत होगी जो नवउदारवादी पूँजीवाद के सताये लोगों को राहत प्रदान कर सके। जब ऐसी राहत दी जायेगी (और इसके बाद उसको कायम रखने के लिए समुचित कदम उठाये जायेंगे) केवल तभी हम मोदी शासन की फासीवादी विरासत को परास्त कर सकेंगे।

(साभार-- फ्रण्टलाईन, 12 अप्रैल 1919)

अनुवाद-- ज्ञानेन्द्र सिंह

फासीवाद जब बढ़ता है

फासीवाद जब बढ़ता है
मित्र घट जाते हैं

वे दैत्य के जबड़े के
सामने नहीं
पड़ोस में
रहना चाहते हैं

मृत्यु से बचने के लिए
ऐसी जगह की तलाश में
जो जीते-जी
मृत बनाये रखती है

-- पंकज चतुर्वेदी

भारतीय राज्य और जन कल्याण! तौबा, तौबा

-- विशाल विवेक

कोरोना महामारी के कारण राज्य का कल्याणकारी स्वरूप दुनिया के बौद्धिक हलकों में चर्चा का विषय बना हुआ है। कल्याणकारी राज्य का सीधा-सा अर्थ है राज्य द्वारा अपने सभी नागरिकों की आर्थिक और सामाजिक भलाई के लिए काम करना। दरअसल पहले विश्व युद्ध के दौरान सन 1917 में रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति ने पूरी दुनिया को राज्य का एक सच्चा जनवादी स्वरूप दिखाया। रूसी क्रान्तिकारियों ने रूस की उस समय की अर्थव्यवस्था और समाज का समाजवादी सिद्धान्तों के अनुरूप रूपान्तरण शुरू किया था।

इस आर्थिक सामाजिक रूपान्तरण ने समाजवाद की खूबसूरती और पूँजीवाद की सड़ान्ध को दुनिया की जनता के सामने ला दिया। इसने दुनिया को दिखाया कि ऐसा राज्य भी हो सकता है जो मुट्ठीभर अमीरों की सेवा करने के बजाय मेहनतकशों की सेवा करे। रूसी क्रान्ति के बाद दुनिया के कोने-कोने में साम्राज्यवादी और पूँजीवादी राजसत्ताओं के खिलाफ जनता की लडाइयाँ तेज हो गयीं। इससे खौफ खाकर ही पूँजीवादी विचारकों ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को सामने रखा, जिसका असल मतलब था पूँजीवादी लूट को कायम रखते हुए आम जनता का भी कुछ भला कर देना।

सन 1949 में अंग्रेज समाजशास्त्री टी एच मार्शल ने "नागरिकता और समाजिक वर्ग" नाम से एक निबन्ध लिखा था। इसमें "कल्याणकारी राज्य" को ही राज्य का अन्तिम और सर्वोच्च रूप बताया गया। उन्होंने बताया कि राज्य को इस तरह से काम करना चाहिए कि निजी सम्पत्ति भी खूब फले-फूले और साथ ही साथ आम लोगों का भी सामाजिक-आर्थिक विकास हो। यह दो बिल्कुल विरोधी बातों का घालमेल था, क्योंकि निजी सम्पत्ति आम जनता की मेहनत की कमाई को हड़पकर ही फल-फूल सकती है। पूरी दुनिया में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव को रोकने और समकालीन पूँजीवाद को टूटने से बचाने के लिए इस विचार को पूँजीवादियों ने खूब प्रचारित किया और लागू किया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद ज्यादातर देश उपनिवेशवादियों के चंगुल से आजाद हो गये। समाजवाद इनकी मुक्ति का सहयोगी था। नव-स्वाधीन देशों की आर्थिक हालत और जनता के समाजवाद के प्रति झुकाव के चलते वहाँ के शासक वर्ग भी जनकल्याण की कुछ नीतियाँ लागू करने को मजबूर हुए। भारत भी उन्हीं देशों में से एक था।

आजादी की लड़ाई के दौरान भारत को एक समतामूलक समाज बनाने के विचार की समर्थक पार्टियाँ और संगठन काफी प्रभावशाली थे। शहीद भगत सिंह भी भारत में एक समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने कहा था कि क्रान्ति का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति द्वारा तथा एक देश का दूसरे देश द्वारा किये जाने वाले शोषण का अन्त। इसलिए अंग्रेजी दौर की दुर्दशा से पीछा छुड़ाने के वादे के साथ सत्ता सम्भालने वाले भारत के शासक वर्ग की यह मजबूरी भी थी कि वह न चाहते हुए भी कुछ जनपक्षधर नीतियाँ लागू करे। इसलिए उस वक्त के भारी जनदबाव के कारण भारत का शासक वर्ग कल्याणकारी राज्य की तरफ रुख करने को मजबूर हुआ।

आजादी के बाद भारतीय शासकों ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर चलते हुए शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि मामलों में एक हद तक काम किया। उद्योगपतियों की इतनी हैसियत भी नहीं थी कि वे भारी उद्योगों और आधारभूत ढाँचे के निर्माण का खर्च उठा सकें। आधारभूत ढाँचे और उद्योंगों तथा जरूरी सेवाओं का निर्माण सरकार ने जनता से धन जुटाकर किया। भेल, गेल, बड़े-बड़े बाँध और हाईवे आदि बनाये जो मूलतः बड़ी पूँजी के हित में था, लेकिन जिससे एक हद तक जनता के लिए सुविधाएँ और रोजगार भी पैदा हुआ और देश प्रगति की राह पर थोड़ा आगे बढ़ा। इन्हें तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने "आधुनिक भारत का मंदिर" कहा था। यह सब मूलतः पूँजीपतियों के हित के लिए किया गया था, आज वही हित हवस में बदल गयी है, इसके चलते वर्तमान सरकारों को जनकल्याण शब्द से भी नफरत है। पिछले तीन दशकों में भारत में कल्याणकारी योजनाएँ या तो बन्द कर दी गयी हैं या उन्हें पूँजीपतियों के मुनाफे का जरिया बना दिया गया है। नतीजा यह कि सरकारें कल्याणकारी योजनाओं से तौबा-तौबा करने लगी हैं।

इन सालों में कर संग्रह लगातार बढ़ रहा है, उसके बावजूद साल दर साल जनता शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित होती जा रही है। 1995 में कर संग्रह 1.10 लाख करोड़

रुपये था जो 2020 में बढ़कर 20 लाख करोड़ हो गया है जबकि इसी अवधि में देश की सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली और सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली बर्बाद हुई है। जिस दौरान इन्हें ध्वस्त किया जा रहा था उसी दौरान निजी स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र ने दैत्यकारी आकार ग्रहण किया है।

साल 1955 में स्वास्थ्य तंत्र का केवल 8 फीसदी ही निजी स्वास्थ्य क्षेत्र के हवाले था जो 2015 तक बढ़ते-बढ़ते 80 फीसदी हो गया। 1990 तक 67 फीसदी मेडिकल कॉलेज सरकारी थे जो आज घटकर लगभग 40 फीसदी ही रह गये हैं। इनकी भी फीस इतनी ज्यादा है कि देश की 90 फीसदी जनता के लिए इसे चुकाना असम्भव है। 1986 में 60 फीसदी से अधिक लोग इलाज के लिए सरकारी अस्पताल जाते थे जबकी आज 60 फीसदी से अधिक लोग निजी अस्पताल जाने को मजबूर हैं। ग्रामीण भारत के स्वास्थ्य की रीढ कहे जाने वाले प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के निर्माण की दर भी तेजी से कम हो रही है। साल 1955 से 1990 के 35 वर्षों में भारत में 18,600 नये प्रथामिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले गये। जबकि 1990 से लेकर 2017 तक केवल 7000 नये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले गये। भारत में रोजना 2300 लोग कैंसर से मर जाते हैं। देश के चन्द सरकारी अस्पतालों में ही कैंसर का इलाज है और वे भी महानगरों तक सीमित है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार भारत को अपनी जीडीपी का कम से कम 6 फीसदी स्वास्थ्य पर खर्च करना चाहिए, लेकिन भारत सरकार इसके विपरीत बजट कम करती जा रही है। साल 1991 में जीडीपी का 1.3 फीसद स्वास्थ्य पर खर्च होता था जो 2020 तक घटते-घटते 0.37 फीसद बचा है। जिसमें सरकार अन्य सम्बन्धित विभागों की राशि जोड़कर इसे 1.8 फीसद दिखाने का प्रयास कर रही हैं। "ग्लोबल बर्डन डिजीज" 2016 नामक रिपोर्ट के अनुसार भारत दुनिया में सबसे खराब गुणवत्ता की शल्य चिकित्सा वाले देश में शामिल है। इस मामले में भारत 180 देशों में 145वें नम्बर पर है। इतनी बुरी दशा से भी भारत के शासक सन्तुष्ट नहीं है इसलिए सत्ताधारी नेता, मंत्री अकसर ही हर प्रकार की बीमारी का इलाज गौ-मूत्र और गाय के गोबर से करने का प्रचार करते रहते हैं।

जनकल्याण की थोड़ी बहुत नीतियों के तहत 1990 से पहले देश में जो सार्वजनिक स्वास्थ्य का ढाँचा खड़ा किया गया था उसे भी पिछले तीस सालों में बर्बाद कर दिया गया। कोरोना से होने वाली अधिकतर मौतें देश के अस्पतालों में जरूरी बुनियादी सुविधाएँ जैसे बेड, वेंटिलेटर, ऑक्सीजन आदि न होने से हुई हैं। असल में कोरोना महामारी के दौरान राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की महत्ता तब साबित हो गयी जब दुनिया के कई देशों ने अपनी चिकित्सा प्रणाली का राष्ट्रीयकरण कर दिया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि निजी क्षेत्र का मकसद लोक कल्याण न होकर हमेशा मुनाफा कमाना ही होता है चाहे कोई महामारी हो या प्राकृतिक आपदा।

देश की शिक्षा प्रणाली में आये बदलाव पर गौर करें तो यह बात साफ हो जाती है कि शिक्षा भी सरकार की चिन्ता के दायरे से बाहर निकल गयी है। 1964 में गठित कोठारी आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि भारत को शिक्षा पर कम से कम जीडीपी का 6 फीसदी खर्च करना चाहिए। साल 1951 में भारत अपनी जीडीपी का आधा फीसद ही शिक्षा के क्षेत्र पर खर्च करता था जो साल दर साल बढ़ते हुए 1990 तक 3.84 फीसदी तक पहुँचकर ठहर गया। पिछले 30 सालों में इसकी गति नीचे की ओर रही है। पिछले बजट में शिक्षा से सम्बन्धित सभी प्रकार की गतिविधियों के लिए आवंटित कुल राशि ही बामुश्किल 3 फीसदी है। निजी क्षेत्र के दखल के बाद से शिक्षा का मकसद ही बदल गया है। पहले शिक्षा का मकसद वैज्ञानिक नजरिये का निर्माण करना, सामाजिक जिम्मेदारी की भावना विकसित करना तथा साथ ही देश के सामाजिक आर्थिक विकास में योगदान करना था। यह मकसद कितना पूरा हुआ, यह किसी से छिपा नहीं है, लेकिन आज शिक्षा का मतलब डिग्री नामक एक कागज के टुकडों से अधिक कुछ नहीं रह गया है। अगर देश में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा कहीं बची भी है तो उस तक पहुँचना एक आम विद्यार्थी के लिए असम्भव है।

पिछले एक दशक में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान यानी आईआईटी की फीस पच्चीस हजार रुपये प्रति साल से बढ़ाकर दो लाख कर दी गयी है। एमबीबीएस की फीस में नौ सौ फीसद की बढ़ोत्तरी हुई है। देश के अधिकतर सरकारी डिग्री कॉलेज धूल फाँक रहे हैं जबकि प्राइवेट डिग्री कॉलेज पैसों के बदले डिग्रियाँ बाँट रहे हैं। शिक्षा में यह गिरावट सरकार के लिए कोई चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि सरकार देश के नौजवानों को बेअक्ल रखने में ही अपना भविष्य देखती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग यानी यूजीसी को खत्म करने की कांग्रेस सरकार की नाकाम कोशिश को मोदी सरकार ने 2018 में भारतीय उच्च शिक्षा आयोग बनाकर मुकाम पर पहुँचाया। बीके चड्ढा रिव्यू कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार देश में 45 फीसदी प्रोफेसर के पद और 52 फीसदी व्याख्याताओं के पद खाली हैं। देश में कुल मिलाकर 14 लाख शिक्षकों की कमी है जबकि लाखों डिग्री धारी नौजवान रोजगार की तलाश में सड़क पर धक्के खा रहे हैं।

2017 में मानव संसाधन राज्यमंत्री उपेन्द्र कुशवाह ने बताया था कि देश के 37 फीसद सरकारी स्कूलों में बिजली नहीं पहुँची है। मध्य प्रदेश सरकार पिछले दो सालों में 28 हजार प्राथमिक विद्यालय हमेशा के लिए बन्द कर चुकी है। मध्य प्रदेश सरकार का कहना है कि उन सभी स्कूलों में बच्चे कम हैं लेकिन बच्चे कम क्यों है इस बात की पड़ताल सरकार नहीं करवाती।

आज सरकारी विद्यालय मरणासन्न अवस्था में पहुँच चुके हैं। इसी का लाभ उठाकर गली-गली में कुकुरमुत्ते की तरह उग आये निजी स्कूल शिक्षा के नाम पर लोगों की गाढ़ी कमाई लूट रहे हैं।

मौजूदा प्रधानमंत्री 'न्यूनतम सरकार, अधिकतम शासन' यानी 'मिनिमम गवर्नमेंट, मैक्सिमम गवर्नेंस' का नारा लगाते हुए सत्ता में पहुँचे हैं। इस नारे का अर्थ ही राज्य के कल्याणकारी स्वरूप का खात्मा है। सरकारी सम्पत्तियों का निजीकरण करना ही उन्होंने अपने कार्यकाल का मुख्य मकसद बना रखा है। जैसे-जैसे निजीकरण बढ़ता जाएगा, कल्याणकारी राज्य सिकुड़ता जाएगा। मिसाल के तौर पर किसी भी कल्याणकारी राज्य में वंचित समुदाय को समाज की मुख्यधारा में शामिल करने के लिए आरक्षण की व्यवस्था की जाती है। आरक्षण की वजह से ही हजारों साल से पीड़ित दलित, आदिवासी समुदाय का देश के राजनीतिक-आर्थिक जीवन में थोड़ा ही सही, प्रतिनिधित्व दिखा है। क्योंकि निजी क्षेत्र किसी भी प्रकार की ऐसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता जो उसके मुनाफे में लेशमात्र की भी कमी करे, इसलिए देश में चल रही निजीकरण की आँधी आरक्षण की व्यवस्था को ध्वस्त कर देगी।

आज सरकारें रक्षा, आन्तरिक कानून व्यवस्था, मुद्रा प्रबन्धन, कर संग्रह को ही अपनी मुख्य जिम्मेदारी मानते हुए जनता की गाढ़ी कमाई का ज्यादातर पैसा हवाई अड्डों, हाईवे, सुरंगों, पुलों आदि के निर्माण में लगा रही है जिनसे देश की 80 फीसदी जनता को कोई फायदा नहीं है और जो केवल पूँजीपतियों की माल ढुलाई और आवाजाही के काम आते हैं।

90 के दशक के बाद से भारत का कल्याणकारी राज्य दम तोड़ता चला गया। 1991 में अपनायी गयी "उदारीकरण, वैश्वीकरण, निजीकरण" की नीतियों ने तस्वीर को पूरी तरह बदल दिया। इन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था को देशी-विदेशी निजी कम्पनियों के लिए खोलने का काम किया। जनता की बुनियादी जरूरतों वाले सभी क्षेत्रों में इन कम्पनियों की घुसपैठ होती गयी और सरकार ने अपने हाथ खींच लिये। बाजार में अपना जाल बिछाये मुनाफाखोर कम्पनियों से आज हम घिरे हुए हैं। 'कॉर्पोरेट कार्य मंत्रालय' के अनुसार आज भारत में 12 लाख से अधिक निजी कम्पनिया रजिस्टर्ड हैं। इन नीतियों को लागू करते वक्त सरकार का दावा था कि इससे कर संग्रह और सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी में बढ़ोतरी होगी जिससे देश का विकास होगा। कर संग्रह और जीडीपी में तो बेशक बढ़ोतरी हुई परन्तु आम जनता का जीवन स्तर उन्नत होने के बजाय गिरता चला गया।

आज का भारतीय राज्य पूँजीपतियों की प्रबन्धन समिति बन गया है। इस भूमिका को वर्तमान बीजेपी सरकार पिछली कांग्रेस सरकार से अधिक मुस्तैदी से और तेजी से निभा रही है। दरअसल जब हम देश में लागू की जा रही नीतियों को ध्यान में रखते हुए भारत की मौजूदा राजनीतिक पार्टियों पर विचार करते हैं तो उनके बीच का अन्तर मिट जाता है। सभी राजनीतिक पार्टियाँ जनविरोधी नीतियों को लागू करने के काम में एक साथ हैं। भारत के कल्याणकारी राज्य के स्वरूप को चकनाचूर करने के लिए पिछले 30 सालों में सत्ता में आयी हर राजनीतिक पार्टी जिम्मेवार है। अब यह जनता के ऊपर है कि वह इन पार्टियों को कब तक सहन करती है।

राजनेता के दो मुँह

राजनेता के दो मुँह होते हैं
एसिमुदा की दुधारी तलवार की तरह
यह दोतरफा हत्या करती है

वह राजनेता ही तो है
जो एक साँप को देखता है
और उसे केंचुआ कहता है?
वोट के लिए साष्टाँग दण्डवत करता है
लेकिन उसका दिमाग उकडू बैठा होता है
भूखे कुत्ते की तरह

अफसोस, एक पतली खाल से ढँकी है उसकी पेट
हम झाँक नहीं पाते एक झूठे भेड़िया के भीतर
जब सत्ताधारी आदमी
अपनी कहानी सुना रहा हो
तो उसे कहिए कि ठहरो
हम एक छन्नी लेकर आते हैं

जो कोई विश्वास करता है राजनेता कि बातों पर
उसके कान जकड़ गये हैं सच्चाई की लाश से

एक राजनेता कहता है आप से इन्तजार करने के लिए
और आप उसकी बातों पर ध्यान देते हो
हाय! दोस्त,
आपका अन्तर्मन अहसास करायेगा
इस मुर्खता की तीखी पीड़ा का

राजनेता के दो मुँह होते हैं
दोनों गोरों के उस्तरे की तरह धारदार।

--नीयी ओसुन्दरे

जनसंख्या नियंत्रण विधेयक का तर्कहीन मसौदा

-- वंदना प्रसाद, दीपा सिन्हा

सार्वजनिक स्वास्थ्य और सामाजिक विकास के क्षेत्र में काम करने वाले हम जैसे कई लोग हाल ही में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा घोषित-- उत्तर प्रदेश जनसंख्या (नियंत्रण, स्थिरीकरण और कल्याण) विधेयक, 2021-- को देखकर पूरी तरह भयभीत भले ही ना हो लेकिन आश्चर्यचकित हैं। यह मुख्यतः दो बच्चे पैदा करने पर केन्द्रित है, जिसमें उल्लंघन के लिए दण्ड और कानून का पालन करने के लिए कई तरह के प्रोत्साहनों का उल्लेख किया गया है। इसके खिलाफ तेजी से बढ़ रही नकारात्मक प्रतिक्रिया का कारण इसमें निहित विभिन्न खतरे हैं, और साथ ही यह भी कि अधिकतर विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि 'विकास सबसे अच्छा गर्भनिरोधक है' और यह भी कि प्रोत्साहन के द्वारा जनसख्या स्थिरीकरण की बात बहुत पहले ही अतार्किक साबित हो चुकी है।

1994 के शुरू में इण्टरनेशनल कॉन्फ्रेंस ऑन पॉपुलेशन एण्ड डेवलपमेण्ट (यूएन 1994) की कार्रवाई का मसौदा, जिस पर भारत ने भी हस्ताक्षर किये हैं, इसमें दृढता से साबित किया गया था कि जनसख्या स्थिरीकरण में जोर-जबरदस्ती, प्रोत्साहन और निरुत्साहन की भूमिका बहुत कम होती है और इसके बजाय इसके लिए जानकारी देकर मुक्त चुनाव के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए।

यही सिद्धान्त राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 में भी प्रतिध्वनित होता है, जो पूरी स्पष्टता से लक्ष्य मुक्त सोच का समर्थन करता है और शिक्षा, मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य और उत्तरजीविता पर फोकस करता है और गर्भनिरोधक सेवाओं सहित स्वास्थ्य सेवाओं और देखभाल की उपलब्धता को जनसंख्या स्थिरीकरण की प्रमुख रणनीतियाँ मानता है। प्रोत्साहन और निरुत्साहन के खिलाफ इस वैश्विक और राष्ट्रीय गठजोड़ के लिए और ऊपर दिये गये विकास सम्बन्धी मानकों के पक्ष में तर्क और औचित्य उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों पर आज भी उतने ही लागू होते हैं जितना तब लागू होते थे जब इन नीतियों को सूत्रबद्ध किया गया था।

स्थिरीकरण के संकेत

नीचे दिये गये स्थापित तथ्यों पर तर्क के साथ विचार करें-

भारत और उत्तर प्रदेश की जनसंख्या दो बच्चों के मानदण्ड जैसी दमनकारी नीतियों के लागू होने से पहले ही स्थिरीकरण की और बढ़ रही है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एनएफएचएस - 3) के अनुसार उत्तर प्रदेश में प्रजनन दर 10 वर्ष पूर्व 3.8 थी, जबकि आज 2.7 (एनएफएचएस-4) ही है। यह गिरावट शिशु मृत्यु दर, मातृ मृत्यु दर, कुपोषण जैसे राज्य के स्वास्थ्य संकेतकों में इस अवधि के दौरान हुए सुधार के बावजूद है।

एनएफएचएस-4 के मुताबिक ऐसे कई राज्य हैं जो 2.1 की प्रजनन दर का निर्धारित स्तर हासिल कर चुके हैं जैसे आँध्र प्रदेश, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, ओडिशा, तेलंगाना, तमिलनाडु, उत्तराखण्ड, पश्चिम बंगाल (केन्द्र शासित प्रदेशों और कुछ पूर्वोत्तर के राज्यों को छोड़कर)। इन में से सभी की बाल मृत्यु दर उत्तर प्रदेश से कम है। उदाहरण के लिए, एनएफएचएस-4 के मुताबिक केरल में बाल मृत्यु दर 07 और तमिलनाडु में 27 है इनकी तुलना में उत्तर प्रदेश में बाल मृत्यु दर 78 है। उत्तर प्रदेश में 10 या उससे अधिक वर्षों तक स्कूली शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या 33 प्रतिशत है, जबकि केरल में यह 72 प्रतिशत और तमिलनाडु में 50 प्रतिशत है। इस प्रकार स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी सेवाओं के बेहतर वितरण के माध्यम से जनसंख्या स्थिरीकरण में तेजी लाने की बहुत गुंजाइश है।

बाल लिंगानुपात का मुद्दा

दो बच्चों के मानदण्ड जैसी नीतियों को जबरदस्ती लागू करने में सबसे बड़ी चिन्ता की बात यह है कि उसका सबसे ज्यादा प्रभाव बाल लिंगानुपात पर पड़ता है क्योंकि जिस समाज में इसे लागू किया जाना है वहाँ लड़कों को बहुत अधिक प्राथमिकता दी जाती है। यह चिन्ता कितनी ज्यादा वास्तविक है, इसे चीन के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है, जिसने अपने एक बच्चे के मानदण्ड पर रोक लगाकर दो बच्चों के मानदण्ड को लागू किया। उसके बाद भी जब बाल लिगांनुपात में निरन्तर भयानक गिरावट दर्ज होती रही तो बाल प्रजनन दर से पूरी तरह प्रतिबन्ध हटा लिया। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय राज्यों में बाल लिगांनुपात के मामले में उत्तर प्रदेश सबसे खराब

स्थिति में है, केरल में 1047 और तमिलनाडु में 954 की तुलना में सबसे कम बाल लिगांनुपात उत्तर प्रदेश में 907 है। इसके बावजूद उत्तर प्रदेश सरकार का ऐसा मूखर्तापूर्ण सनकी कदम उठाना समझ से परे है।

कमजोर सामाजिक आर्थिक स्थिति और परिवार के आकार के बीच सहसम्बन्ध है, जैसे कि पहले भी बहुत से लोगों ने चिन्हित किया है, प्रस्तावित मानदण्ड गरीबों में भी सबसे गरीब समुदायों के परिवारों, जैसे धार्मिक अल्पसंख्यकों और दलित परिवारों पर भेदभावपूर्ण प्रभावों की चोट करते हैं। ऐसे समुदायों को राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों से बाहर करके और साथ ही साथ सामाजिक कल्याण तक उनकी पहुँच के रास्ते में दीवार खड़ी करके किसी भी तरह के सामाजिक न्याय और समानता को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

गरीब समुदायों को अक्सर ही जनसंख्या नियंत्रण न करने के लिए दोषी ठहराया जाता है, जबकि हमारे द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार इनका विशाल बहुमत जनसंख्या नियंत्रण करने और गर्भनिरोधक सेवाओं के लिए सक्रिय रूप से प्रयास करने के पक्ष में है। उत्तर प्रदेश सरकार केवल 18 प्रतिशत लोगों की ही गर्भनिरोधक आवश्यकता पूरी कर सकी है (उदाहरण के लिए, तमिलनाडु में 10 प्रतिशत)। यह वह राज्य है जो गर्भनिरोधक सेवाओं की सक्रिय इच्छुक आबादी के पाँचवे हिस्से तक भी सेवाओं की आपूर्ति नहीं कर सका है, अच्छे स्तर की सेवाओं का प्रतिशत तो कहीं ज्यादा बुरा है। अगर हम कानून का उपयोग करके ही स्थिति को ठीक करना चाहते हैं तो सबसे पहले "स्वास्थ्य रक्षा के अधिकार का कानून" क्यों नहीं लागू करते, जिसकी माँग स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम करने वाले समूह दशकों से कर रहे हैं? और माँग होने पर उचित समय में और सेवाएँ प्रदान ना करने पर राज्य को भी दंडित क्यों न किया जाये जिस तरह इस कानून में लोगों के लिए है?

आपराधिक नसबन्दी के 'शिविरों' में बेवजह गँवाई गयी हजारों जिन्दगियों और मानवाधिकारों के उल्लंघन की यादें अभी भी हमारे जेहन में मौजूद हैं, जिसे नियंत्रित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को कदम उठाना पड़ा था (देविका बिस्वास बनाम यूनियन आफ इण्डिया एण्ड अदर, पिटिसन-2012 सख्या-95)। हाल ही में उत्तर प्रदेश के गाँव की एक नृशंस घटना सामने आयी है जिसमें कोविड-19 का टीका लगाने का लालच देकर डॉक्टरों ने अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए एक गरीब विकलांग व्यक्ति की जबरन नसबन्दी कर दी।

एक गलत रास्ते का अनुसरण

स्पष्ट रूप से जैसा कि बहुत सारे मामलों में सामने आया है मौजूदा समय में राज्य 'नियंत्रण' के पुराने ढर्रे के मानकों को स्थापित कर रहा है, सरकार को अपने नागरिकों पर यह भरोसा नहीं है कि वे खुद अपने हित में तार्किक कदम उठा सकते हैं। इन निर्णयों के समर्थक के रूप में और जनता के अधिकारों के लिए एक कर्तव्यवाहक के रूप में अपना काम करने के बजाय राज्य बेहतर स्थिति में खुद को एक पितृसत्तात्मक ताकत की तरह मानता है जिसे हुक्म ना मानने वाली अनाड़ी आबादी पर निश्चित रूप से अंकुश रखना चाहिए और बदतर स्थिति में खुद को एक पुलिसकर्मी की तरह मानता है जो कानून का उपयोग निरकुंशता के साधन की तरह करता है। जनसख्या स्थिरीकरण के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं, अगर उत्तर प्रदेश सरकार दशकों के वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित सामूहिक समझ की थोड़ी भी कद्र करती तो उसे इस अतार्किक और बीमार सोच वाले प्रस्तावित अधिनियम को तुरन्त वापस ले लेना चाहिए था। इसके बजाय, हम दूसरी राज्य सरकारों को इसके पीछे-पीछे चलते देख रहे हैं। स्पष्ट रूप से हमारी सरकारों के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा की बुनियादी सेवाएँ प्रदान करने में अपनी विफलताओं के लिए खुद को दोषी मानने के बजाय अल्पविकास के पीड़ितों पर ही दोष मढ़ना और उन्हें सजा देना आसान है।

(वन्दना प्रसाद एक स्वतंत्र जन स्वास्थ्य विशेषज्ञ हैं और हेल्थ रिसॉर्स नेटवर्क से जुड़ी हैं। दीपा सिन्हा अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली में प्राध्यापक हैं।)

(द हिन्दू से साभार)

अनुवाद -- सोनू पवाँर

जंगली जनतंत्र

जंगली जनतंत्र के
  व्यापक प्रपंच और प्रसार में
सामाजिक न्याय पाने की
पूरी प्रक्रिया जटिल है;
आम आदमी के लिए तो यह
  और भी
    क्रूर और कुटिल है
चारों ओर 'किलकिल' है
भुक्तभोगी कहते हैं :
  रोओ मत बेटा!
  यहाँ ठेंगा और,
    'टिलटिल' है।

-- केदारनाथ अग्रवाल

सत्ता के नशे में चूर भाजपाई कारकूनों ने लखीमपुर खीरी में किसानों को कार से रौंदा

--एस बी आजाद

लखीमपुर खीरी में प्रदर्शन के दौरान गाड़ियों द्वारा किसानों को कुचलने से 2 किसान तत्काल शहीद हो गये तथा 2 किसान अस्पताल ले जाने के दौरान रास्ते में शहीद हो गये। किसान नेता तेजिन्दर सिंह विर्क सहित अन्य कई किसानों को गम्भीर रूप से चोटें आयी हैं। किसान नेता तेजिन्दर सिंह विर्क जिला लखीमपुर से रेफर कर दिये गये तथा उनका दिल्ली के मेदान्ता अस्पताल में इलाज चला जो खतरे से बाहर हो गये। चार किसानों के साथ बाद में एक स्वतंत्र पत्रकार की भी गाड़ी से कुचलकर मरने की पुष्टि हुई।

इस दिल दहला देने वाली घटना के उपरान्त पूरे किसानों में आक्रोश और पीड़ामय स्थिति उत्पन्न हुई। दूर-दूर से किसान घटना स्थल पर पुनः एकत्रित होना शुरू हुए। तत्काल वहाँ के सड़क को जाम कर दिया गया और प्रशासन से न्याय की माँग की जाने लगी। चारों शहीद किसानों का शव फ्रीजर में डालकर घटनास्थल के सड़क पर रखकर सड़क जाम कर दिया गया। प्रशासन और सरकार से कहा गया कि जब तक हमारी माँगे पूरी नहीं होती, हमें न्याय नहीं मिल जाता, तब तक हम किसान यहाँ डटे रहेंगे और तब तक किसानों के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार नहीं किया जाएगा।

उपरोक्त घटना मेरे सामने घटित हुई। वह भयानक मंजर दिमाग से उतरने का नाम ही नहीं ले रहा और यह रिपोर्ट लिखते समय न जाने कितनी बार मैं भावुक हुआ हूँ। मतलब केन्द्रीय मंत्री के द्वारा ऐसा माहौल तैयार किया गया कि लखीमपुर छोड़ना पड़ जायेगा... जैसे भड़काऊ बयान और उसी का नतीजा रहा कि हमारे कई शहीद किसान पूरी दुनिया छोड़ चले गये। पूरे लखीमपुर जिले को कश्मीर टाइप बना दिया। सुप्रीम कोर्ट द्वारा इण्टरनेट सेवा को मौलिक अधिकार बताने के बावजूद पूरे 55 घण्टे तक इण्टरनेट और एसएमएस सेवा बन्द कर दी गयी। जिससे कि मंत्री के खिलाफ कोई भी साक्ष्य ना फैल सके। वहीं मंत्री और उसके बेटे की गिरफ्तारी तो दूर कोई पूछताछ भी नहीं की गयी। इस दौरान तकरीबन 50 हजार किसान जुट गये थे और तिकुनिया और सिंघाही थाना के पुलिस डर के मारे थाना छोड़ कर भाग गये थे। किसान आन्दोलन के भारी दबाव और सुप्रीम कोर्ट की तल्ख टिप्पणी के बाद मन्त्री पुत्र को गिरफ्तार कर लिया गया।

शहीद किसान गुरविन्दर सिंह की पोस्टमार्डम रिपोर्ट से गोली लगने का नामोनिशान ही मिटा दिया गया। इससे जाहिर होता है कि इस देश की न्याय और स्वास्थ्य व्यवस्था भी मंत्री टेनी के साथ-साथ मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री के हाथों बिक चुकी है। जिस प्रकार से सत्ता के नशे में धुत्त सरकार पूरे देश में मामूली सी घटनाओं पर भी जगह-जगह धारा 144 लगाने का खिलवाड़ करती रहती है, उसी प्रकार उसने अब इण्टरनेट बन्द करने को भी दमन के एक हथकण्डे के रूप में अपना लिया है। कहीं भी कुछ भी हो इण्टरनेट बन्द कर दो। इस आन्दोलन के दौरान जियो द्वारा इण्टरनेट बन्द कर दिया गया। इण्टरनेट बन्द करना भी दमन का ही एक रूप है ताकि सच्चाई छुपाई जा सके। आखिर किसको डर है इण्टरनेट चलने से? मंत्री के बेटे द्वारा सैकड़ों लोगों के सामने किसानों को कुचला गया। सैकड़ों लोग इसके प्रत्यक्षदर्शी हैं इसे क्यों नहीं माना जाता? इस पर बहस होनी चाहिए। इतने भयानक तरीके से लोकतंत्र और इनसानियत की हत्या करना इससे दर्दनाक और क्या हो सकता है?

घटना का तात्कालिक कारण

बीते 25 सितम्बर को केन्द्रीय गृह राज्य मंत्री अजय मिश्रा टेनी ने लखीमपुर जिले के सम्पूर्णानगर में एक सभा में किसानों पर विवादित और अभद्र बयान देते हुए कहा कि "जो 15-20 किसान हमारा विरोध कर रहे हैं वे सुधर जायें अन्यथा हमारा सामना करें, 2 मिनट नहीं लगेगा हम उन्हें सुधार देंगे। हमारे विधायक, साँसद बनने से पहले वे जानते होंगे कि हम क्या थे? जिस दिन हमने चुनौतियों को स्वीकार कर लिया तो इन्हें पलिया तो क्या जिला लखीमपुर छोड़कर भागना पड़ेगा।"

यह बयान अपने आप में सवाल खड़ा करता है कि मंत्री बताना क्या चाहते थे? वह पहले क्या थे? इसमें एक धमकी छुपी है। होना तो यह चाहिए था कि एक मंत्री के इस गुण्डई वाली भाषा के कारण बर्खास्त कर दिया जाता। पर उसे तो इसी के कारण मंत्री पद मिला है। परन्तु इस बयान से सभी किसान संगठनों में मंत्री

के खिलाफ आक्रोश और गुस्सा बढ़ता गया जिसके बाद किसान संगठनों ने तय किया कि 03 अक्टूबर 2021,दिन रविवार को केन्द्रीय मंत्री के घर दंगल विजेताओं को पुरस्कृत करने के लिए आ रहे मुख्य अतिथि उत्तर प्रदेश के उप मुख्यमंत्री केशव प्रसाद मौर्य और साथ में केन्द्रीय मंत्री अजय मिश्र टेनी को काले झण्डे दिखाकर शान्तिपूर्वक विरोध प्रदर्शन करेंगे।

तय कार्यक्रम के अनुसार किसानों ने 3 अक्टूबर को प्रातः 08 बजे से ही उपमुख्यमंत्री केशव प्रसाद मौर्य के हेलीकॉप्टर लैण्ड करने वाले स्थान महाराजा अग्रसेन इण्टर कॉलेज तिकुनिया के खेल मैदान में एकत्रित होना शुरू किया। धीरे-धीरे किसानों की तादात बढ़ती गयी और साथ ही साथ पुलिस बलों की संख्या भी बढ़ने लगी।

दोपहर करीब दो बजे के समय पुलिस प्रशासन ने किसान नेता तेजिन्दर सिंह विर्क से वार्ता करके किसानों को वहाँ से हटने और विरोध प्रदर्शन खत्म करने को कहा। किसान नेता तेजिन्दर सिंह विर्क (उत्तराखण्ड-उत्तर प्रदेश तराई क्षेत्र किसान के प्रदेश अध्यक्ष) ने प्रशासन को बताया कि "उप मुख्यमंत्री सहित जितने भी लोगों को केन्द्रीय मंत्री के घर जाना है वह इस रूट के अलावा दो अन्य रूट हैं उस रूट से जा सकते हैं। हम किसानों को कोई आपत्ति नहीं होगी तथा जब उपमुख्यमंत्री केशव प्रसाद केन्द्रीय मंत्री के घर पहुँच जाएँ तो पहुँचने की सूचना मिलते ही हम किसान अपना प्रदर्शन खत्म कर अपने अपने घर लौट जाएँगे।"

प्रशासन ने बात मान ली और वार्ता के अनुसार उपमुख्यमंत्री के रूट बदल दिये गये और किसान अपने-अपने घरों को लौटने लगे। इसी बीच अचानक केन्द्रीय मंत्री अजय मिश्र टेनी के बड़े बेटे आशीष मिश्रा उर्फ मोनू ने अपने कुछ लम्पट और गुण्डा तत्वों के साथ तीन चारपहिया वाहन से अपने खुफिया लोगों के इशारे पर किसान नेता तेजिन्दर सिंह विर्क को टारगेट करते हुए लगभग 80-90 किमी प्रति घण्टा की गति में एक महिन्द्रा थार और दूसरी फार्च्यूनर गाड़ी से किसानों को रौंदते हुए आया। उसकी गाड़ी आगे जाकर अनियंत्रित हो एक गाड़ी जो हथियारों से लैस थी खड्डे में जा गिरी और तत्काल उसमें आग लग गयी। दूसरी गाड़ी जिसमें मंत्री का बेटा आशीष मिश्रा सवार था उसमें से वह उतरकर अपने गुण्डा मित्रों के साथ बन्दूक लहराते हुए और फायरिंग करते हुए गन्ने की खेत में भागने लगा। एक किसान ने उसे पकड़ने की कोशिश की तो वे लोग उसे गोली मारकर पुलिस सुरक्षा के साथ फरार हो गये। गुस्साई किसानों की भीड़ ने उसकी गाड़ी को धकेलकर उसमें आग लगा दी तथा तीसरी गाड़ी स्कार्पियो मौका देखते हुए वहाँ से भाग निकली। इस हिंसा में चार भाजपाई भी मारे गये, जो मन्त्री पुत्र के साथ कार से आये थे।

इस घटना के तत्काल बाद किसानों ने निम्नलिखित माँगें पेश कीं--

1. केन्द्रीय मंत्री अजय मिश्रा टेनी को उसके मंत्री पद से बर्खास्त किया जाये तथा उनके खिलाफ हिंसा भड़काने और साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने का मुकदमा दायर किया जाये।

2. मंत्री के बेटे आशीष मिश्रा और उसके गुण्डा मित्रों पर (302) हत्या का मुकदमा दर्ज कर तत्काल गिरफ्तार किया जाये।

3. शहीद किसानों के परिवार को एक करोड़ रुपये का आर्थिक सहयोग और परिवार के किसी एक सदस्य को योग्यतानुसार सरकारी नौकरी दी जाये।

5. पूरी वारदात की जाँच सुप्रीम कोर्ट की निगरानी में हाई कोर्ट के रिटायर्ड जजों की गठित टीम एसआईटी द्वारा की जाये।

उपरोक्त सभी माँगों को लेकर किसान प्रदर्शन करने लगे तथा पुलिस प्रशासन की शहीद किसानों के शवों को अपने कब्जे में लेने की कोशिश नाकाम रही। 3 अक्टूबर से 5 अक्टूबर तक पूरे लखीमपुर में इण्टरनेट बन्द रहा।

4 अक्टूबर के भोर में ही भारतीय किसान यूनियन के नेता राकेश टिकैत घटना स्थल पर पहुँचकर शहीद किसान परिवार से मिले। प्रसाशन और किसान नेताओं के बीच लगभग 3 से 4 घण्टे की वार्ता में किसानों के कुछ माँगों को मान लिया गया। उसके पश्चात् किसान नेता राकेश टिकैत ने 4 अक्टूबर की दोपहर एक बजे के समय शहीद परिवार और किसानों को सम्बोधित किया और सरकार द्वारा मान ली गयी माँगों का ऐलान किया। शहीद हुए किसानों के पार्थिव शरीर का पोस्ट मार्टम करवाने के लिए जिला लखीमपुर भेज दिया गया और सभी किसान उस दिन अपने-अपने घरों को लौट आये।

शहीद किसान और पत्रकार के नाम, उम्र और पता

1. दलजीत सिंह पुत्र हरी सिंह, उम्र 35 वर्ष, निवासी बंजारा टाण्डा (नानपारा) जिला बहराइच।
2. गुरविन्दर सिंह पुत्र सुखविन्दर सिंह, उम्र 20 वर्ष, निवासी मोहरानिया (नानपारा) जिला बहराइच।
3. लवप्रीत सिंह पुत्र सतनाम सिंह, उम्र 19 वर्ष, निवासी चौखड़ा फार्म मजगयी (पलियाकलां) लखीमपुर खीरी।
4. नछत्तर सिंह पुत्र सुब्बा सिंह, उम्र 55 वर्ष, निवासी नन्दापुरवा धौरहरा लखीमपुर खीरी।
5. रमन कश्यप पुत्र रामदुलारे, उम्र 27 वर्ष, निवासी निघासन लखीमपुर खीरी। (स्वतंत्र पत्रकार)

शहीद किसानों को विनम्र श्रद्धांजलि!

बॉर्डर्स पर किसान और जवान

-- भगवान स्वरूप कटियार

यह अजब संयोग ही है कि अगस्त और सितम्बर महीने में महज 20-25 दिनों के अन्तराल में देश की ऐसे बॉर्डर्स पर जाने का सुअवसर मिला, जहाँ एक ओर देश के फौजी देश की सरहदों की निगेबानी कर रहे हैं। यह मौका मुझे 21 अगस्त से 28 अगस्त की जोखिम भरी लद्दाख यात्रा में मिला। देश की सेना में अधिकांश सैनिक किसानों और मेहनतकशों के ही बच्चे हैं। वहीं दूसरी ओर, गत 22 और 23 सितम्बर को दिल्ली में सिंघू, टिकारी और गाजीपुर बॉर्डर्स पर गये जहाँ मोदी सरकार द्वारा लाये गये किसान विरोधी तीन काले कृषि कानूनों के खिलाफ देश के पाँच सौ से अधिक संगठनों के किसान प्रतिरोध प्रदर्शित करते हुए दस महीने से दिल्ली का घेरा डाले हुए हैं। इन विगत दस महीनों में लगभग 700-800 किसानों ने शहादतें दी हैं जिनमें महिला किसान भी शामिल हैं।

किसान एमएसपी पर कानूनी गारन्टी और तीनों कृषि कानूनों की वापसी चाहते हैं। मोदी सरकार न तो एमएसपी पर गारन्टी कानून लाने के लिए तैयार है और ना ही कानून वापसी के लिए राजी है। इसके लिए केन्द्रीय कृषि मंत्री के साथ किसान संयुक्त मोर्चा के प्रतिनिधियों की आठ-नौ दौर की वार्ता भी हो चुकी है। पर नतीजा शून्य ही रहा क्योंकि सरकार कानून वापस लेने को तैयार नहीं है और संयुक्त किसान मोर्चा इससे कम पर तैयार नहीं है। सरकार कानूनों में कुछ संशोधन करने पर सहमत होने की बात करती है। सवाल है कि क्या जहर को संशोधित करने से वह जहर नहीं रहेगा?

किसानों ने गत दिनों दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर सामानान्तर किसान संसद चला कर कृषि कानूनों का न सिर्फ देश के किसानों बल्कि देश के आम जनता पर पड़ने वाले नकारात्मक असर को जितनी अच्छी तरह से व्याख्यायित किया है, उससे उनकी कृषि कानूनों की वास्तविक समझ पर सवाल उठाना कतई बेबुनियाद है। उन्हें खालिस्तानी और पाकिस्तानी कह कर बीजेपी द्वारा अपमानित किया जाना शर्मनाक है जिसकी विदेशों में भी आलोचना हुई है। संसद में शहीद किसानों के प्रति श्रद्धांजलि और शोक प्रस्ताव पर सरकार की असहमति घोर जनविरोधी भावना और संवेदनहीनता को दर्शाता है।

मैं जब गत 22 सितम्बर को सिंघू बॉर्डर दिल्ली में आन्दोलनरत किसान साथियों से मिलने गया तो वहाँ का परिदृश्य देख कर विस्मित होकर रह गया। सिंघू बॉर्डर दिल्ली करनाल हाइवे पर सिंघू गाँव के पास है। सिंघू हरियाणा का एक बड़ा गाँव है जिसके कारण ही इसे सिंघू बॉर्डर कहते हैं। इतने दिनों से सर्दी-गर्मी-बरसात हर मौसम की मार खाते किसान कैसे रह रहे होंगे देश के अन्नदाता? क्या कोई सरकार इतनी बेरहम हो सकती है, अपने ही देश के किसानों के प्रति? मैं फरीदाबाद में जहाँ रुका था, वहाँ से सिंघू बॉर्डर लगभग 50 किलोमीटर दूर है। रास्ते में जाम और सिंघू गाँव होकर सिंघू बॉर्डर पहुँचने में पूरे 4 घण्टे लगे। गाँव का रास्ता टूटी सड़क, कींचड, जल भराव से गुजरते हुए हरियाणा के मुख्यमंत्री खट्टर साहब का हरियाणा भी देख लिया। दोपहर लगभग तीन बजे पहुँच कर सिंघू बॉर्डर के करनाल हाइवे पर किसानों के सैलाब और उनके तम्बुओं और झोपड़ेनुमा सड़क पर बनाये कैम्पों को देखकर लगा जैसे हम देश की किसी सरहद पर खड़े हैं। सरहदों पर भी जवान इसी तरह कैम्पों में ही रहते हैं।

मैं अकेला था और गले में कैमरा लटक रहा था। मैं बहुत देर तक घूम-घूम कर बहुत दूर तक यह नजारा देखता रहा और कैमरे में कैद करता रहा। कई किलोमीटर के दायरे में फैले देश के किसान किसी शरणार्थी कैम्प जैसा दृश्य प्रस्तुत कर रहे थे। सामान्य जनजीवन में गतिरोध पैदा किये बगैर देश के किसान दस महीने से डेरा डाले हुए हैं, अपने खाने-पीने की पूरी व्यवस्था के साथ। मैंने उन्हें टूटी हुई सड़क की मरम्मत करते भी देखा ताकि राहगीरों को असुविधा न हो।

अपरचित और अकेला अजब संकोच था कि कोई गलत न समझ बैठे। किसान आन्दोलन को बदनाम करने के षड्यंत्र भी रचे जा रहे हैं सत्ता पक्ष द्वारा। एक भले मानुस होने के सारे सबूत थे मेरे पास-- आधार कार्ड से लेकर प्रेस कार्ड तक। तभी एक नौजवान सिख दोस्त कैम्प से निकला और हाथ मिलाया। पूछा कहाँ से आये हो? मैंने कहा लखनऊ से सिर्फ आप लोगों से मिलने के लिए। बहुत दिनों से थी यह लालसा जो आज पूरी हुई। वह

बहुत जोर से हँसा उसका नाम मोनू था सोनीपत का रहने वाला। बोला पत्रकार लगते हो।

वह मुझे कैम्प में ले गया, जहाँ और भी बहुत सारे लोग थे। हर कैम्प में गुड़, पानी और चाय के बगैर नहीं जाने दिया। एक जगह मैंने कहा इतना गुड़ मैं नहीं खा पाऊँगा। बोले जब खाने वाले नहीं होंगे तो हम पैदा किसके लिए करेंगे? उनकी सह्रदयता, सोच की विराटता और विनम्रता बेमिसाल है। मुझे आश्चर्य है प्रकाश झा से लेकर गुलजार साहब और परफेक्शनिस्ट आमिर खान की नजर इस ऐतिहासिक किसान आन्दोलन पर कब पड़ेगी और अब तक क्यों नहीं पड़ी? मशहूर डोकुमेण्टरी फिल्मकार आनन्द पटवर्धन जी का कैमरा इधर क्यों नहीं घूमा?

मैंने उनसे कहा कि मैं यहाँ की रिपोर्ट अखबारों में दूँगा और छपने पर आपको भी भेजूँगा। फिर खूब बातें हुईं। और तमाम कैम्पों में गया। लोगों से मिला। उनके फोटो लिये और उनके फोन नम्बर भी। मैं जिन लोगों से मिला, उनमें पंजाब के दो सगे भाई भीमसेन शर्मा और राजकुमार शर्मा थे जो रिटायर फौजी थे। इन्होंने सरहद पर दुश्मन से मोर्चा लिया था और अब सरकार से मोर्चा ले रहे हैं। इस आन्दोलन में रिटायर फौजी किसानों की तादाद अच्छी खासी है। मैं विक्की पंजाब, नरम सिंह रोहतक, तीरथ सिंह पंजाब (मोगा), करमजीत सिंह पंजाब, अजीत सिंह, सन्तोष सिंह, पल सिंह (पंजाब), केर सिंह, बट्टी (पंजाब), बाबा प्रकृति सिंह, अमर सिंह, बलबीर सिंह, गुरुचरन सिंह, परिन्दर सिंह, अवतारसिंह, गुरमेल सिंह, जगदीप सिंह, गुरचरन सिंह पंजाब (हुसेनपुर, संगरू) आदि किसानों से मिला। किसी के चेहरे पर तनाव नहीं था। लम्बे संघर्ष की तैयारी का धैर्य और पारस्परिक एकता उनका अमोघ हथियार ही उनकी असल ताकत है। देश की जनता की भावनाओं का उनके साथ जुड़ाव उनकी दूसरी ताकत थी जिनके बल पर दस महीने से अपनी लड़ाई लड़ रहे हैं। कई कैम्पों में स्टील की कटोरी और गिलास में चाय पीने को मिली और भोजन के लिए भी आमंत्रित किया गया। उनके अपनत्व भरे आतिथ्य ने मेरा मन मोह लिया।

मैंने उनसे कहा कि दस महीनों से सर्दी-गर्मी-बरसात झेलते हुए आप लोग अपनी माँगो को लेकर आन्दोलन में है। यह एक ऐतिहासिक आन्दोलन है जिसकी गूँज पूरी दुनियाँ में है। अमृतसर के सुखदेव सिंह और गब्बरसिंह बोले कि यह सरकार तो बहरी-गूँगी है उसे कहाँ सुनाई देती हमारी दर्द भरी चीखें। मैंने कहा कि अब यह किसान आन्दोलन देश का बड़ा जनान्दोलन बन गया है जिससे देश का जनमानस भी जुड़ गया है। सरकार को झुकना तो पड़ेगा ही। सबने कहा झुका कर ही दम लेंगे। हम किसान हैं देश पालते हैं तो देश बचायेंगे भी। मैंने कहा देश को कार्पोरेट अडानी-अम्बानी के हाथों बेचने से यह आन्दोलन ही बचा सकता है। सरकार बुरी तरह बेनकाब हो चुकी है। पर बहुमत का नाजायाज फायदा उठाकर दमन के रास्ते विपक्ष के विरोध को दबाना चाहती है जो बहुत दिन चलने वाला नहीं है। जब अंग्रेज को भागना पड़ा तो ये भूरे अंग्रेज भी भागेंगे। मैंने कहा कि धरती के असल भगवान तो आप हीं हैं। मन्दिर का भगवान तो कभी बोलता नहीं। आप बोल रहे हैं। बातें कर रहे हैं। बोलने वाले दोस्त भगवान। सबने जोर का ठहाका लगाया। उनमें एक बोला आप तो भक्त हैं, भक्त तो भगवान से बड़ा होता है। उनका नहले पर दहला वाला यह जबाब अच्छा लगा और मैं भी हँस पड़ा। तीनों बॉर्डर्स सिंघू, टिकरी और गाजीपुर पर किसान भाइयों, बहनों और बच्चों से मिलकर बेहद खुशी हुई। एक ख्वाहिश जो मन में थी वह पूरी हुई। हम किसी के संघर्ष में थोड़ी दूर भी चल सकें तो वह उन्हें ताकत देता है और हमें सुकून।

बाजार

सुबह होते ही शुरू हो जाता है मजदूरों का बाजार
कद-काठी देखकर जानवरों की तरह
छाँटे जाते हैं आदमी और औरतें।

शरीर के इस बाजार में शामिल हैं बच्चे भी
जिनके हाथों में किताबें होनी चाहिए थी इस वक्त
उनके हाथों में आ गये हैं तरह-तरह के काम।

दिनोंदिन बढ़ रहे हैं काम
और बढ़ रही है मजदूरों की आबादी
और दिनोंदिन घट रहा है आदमी और सिक्कों का वजन
चन्द सिक्कों के साथ वे लौटते हैं पसीने से लतपथ।

थकान देकर जो असमय ही
बूढ़ा और बीमार बना देती है उन्हें
मशीनें छीन रही हैं उनके हाथ और उनकी कुशलताएँ
उनकी नींद और इच्छाएँ
इक्कीसवीं सदी और कविताओं में
उनकी पीड़ा को कहाँ दर्ज करें?

-- हरिशंकर अग्रवाल

कहानी

पानीपत की चौथी लड़ाई

-- सुबोध घोष

हम लोगों की क्लास मानव विज्ञान की किसी प्रयोगशाला जैसी थी। मानवता का ऐसा विचित्र नमूना शायद ही किसी और स्कूल की क्लास में होगा। हमारी क्लास में तीन राजाओं के लड़के थे। उनमे से एक तो जंगली राजा का बेटा था, बिलकुल काले रंग का। बाकी दो लड़के असली क्षत्रिय के सपूत थे-- गोरा रंग, पगड़ी में मोती की झालर। इसके अलावा थे सिरिल टिग्गा, इमानुएल खाल्खो, जॉन बेसरा, रिचर्ड टुडू और स्टीफन होरो आदि। इतने सारे उरांव और मुण्डा बच्चों के बीच हम मध्यवर्ती परिवार के कुछ बंगाली और बिहारी लड़के भी थे, जो सिर्फ दिमाग के दम पर हर काम में मुखिया होने का गौरव प्राप्त करते थे। राजाओं के बेटों को हम कहते थे सुनहरे मेंढक और मुण्डा-उरांव को काले मेंढक। इनको हम लोग कभी पूछते भी नहीं थे। हालाँकि राजाओं के लड़के भी हमसे कभी बात तक नहीं करते थे। दूसरी तरफ टिग्गा, खाल्खो, बेसरा, टुडू हमसे दो बात करके ही धन्य हो जाते थे। हम टिफिन के वक्त एक आने का सिक्का देकर टुडू को बोलते थे-- टुडू जल्दी से एक आने की मसालेदार मूँगफली, गंगा साहू की दुकान से ले आओ।

स्कूल से गंगा साहू की दुकान की दूरी करीब डेढ़ मील होगी। खुद को धन्य मानते हुए सिक्का लेकर टुडू चिलचिलाती धूप में तपे हुए मैदान पर हिरण की रफ्तार से गंगा साहू की दुकान तक दौड़ता था। वापस आकर मूँगफली का पैकेट हमें देकर खुद किनारे हो जाता था। हम लोग कहते-- "गजब! इतनी दूर दौड़ने पर भी तुम्हारी साँस फूल नहीं रही है।"

इस खोखली बात की चालाकी को आन्तरिक बधाई मानकर टुडू दूर खड़ा होकर गर्व से हँसता था। हम लोग तिरछी नजर से देखते थे टुडू कैसे अपनी साँस को फूलने से रोकने की भरपूर कोशिश कर रहा है। उसको मूँगफली के कुछ दाने देना शायद हम जानबूझकर भूल जाते थे। अगर देते भी तो वह नहीं लेता।

हम लोग यह भी देखते थे, थोडी दूर खड़ा स्टीफन होरो अपनी धारदार आँखों से यह सब देख रहा है। हम लोग घबरा जाते थे। स्टीफन होरो जैसे नजरों से तीर चलाकर हमारे उस फेफड़े को चीरकर देख रहा है, जो बस धूर्त मजाकों से बना हुआ है। सिर्फ स्टीफन ही यह सब समझ रहा है, और कोई ये सब चालाकियाँ क्यों नहीं समझ रहा है?

टुडू, खाल्खो, टिग्गा, बेसरा सब इसी तरह के बेवकूफ, विश्वस्त और भोले थे। हम मन ही मन हँसते थे। हाय रे, राँची के जंगल के जितने कोल हैं, सभी काले मेंढ़क हैं!

उनमें से बस एक ही कोबरा था, स्टीफन होरो, उसके स्वभाव में बड़ा घमण्ड था। आज मानने में कोई शर्म नहीं होगी कि होरो के सामने हमारा अभिजात वर्ग का घमण्ड चुपचाप हार मान लेता था। उसके साथ बनाकर रखने के लिए कभी कभार हम जबरदस्ती उससे बात करते थे। उससे भी ज्यादा शर्म की बात यह है कि, कई बार वह हमारे सवाल का जवाब न देते हुए उदासीन होकर मुँह फेर लेता था। सर पर घने काले घुंघराले बाल, चपटी नाक, आबनूस की लकड़ी जैसा काला शरीर-- फिर भी इतना घमण्ड!

एक घटना के चलते पहली बार स्टीफन से थोड़ा डर और थोड़ी श्रद्धा हुई। उस दिन मैदान में देखा कि होरो अपनी हॉकी स्टिक नहीं लाया है, फिर भी खेलना चाहता है। लेकिन नियम है कि अपने-अपने हॉकी स्टिक से ही खेलना है। होरो ने बार-बार हम लोगों से गुजारिश की कि, थोडी देर के लिए कोई स्टिक उधार दे दे। वह खेलने के बाद वापस कर देगा।

लेकिन कोई भी अपनी स्टिक दूसरे के हाथ में देने को तैयार नहीं था। होरो ने कहा मैं बिना स्टिक के ही खेलूँगा।

जिद्दी होरो पूरा एक घण्टा हमारे हॉकी स्टिक की मार के साथ स्वच्छन्दता से खेलता रहा। होरो के दो मजबूत शीशम की लकड़ी जैसे पैरों पर बेपरवाह स्टिक मारते हुए कई बार हम इस डर से घबरा जाते कि, कहीं स्टिक ही न टूट जाए।

स्टीफन होरो लगातार हमें परेशानी में डालता रहा। सिर्फ डर और श्रद्धा के चलते ही नहीं बल्कि एक और कारण से हम लोग होरो से इर्ष्या करने लगे। पढ़ने-लिखने के मामले में होरो हमारी मानसिक शान्ति को खतरे में डाल रहा था। अंगेजी कविता हुबहू बोलने और व्याख्या करने में उसने हमारे इन्दु को भी पछाड़कर छब्बीस नम्बर ज्यादा हासिल कर लिये थे। यह बात हमें राष्ट्रीय अपमान की तरह महसूस हुई। बिहारी छात्रों ने कितना अपमानित महसूस किया था, यह बताया नहीं जा सकता, होरो की बदनामी

के मामले में वे भी हमारे साथ एक संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गये। चिल्ला-चिल्लाकर हमने सबको बताया-- यहाँ गैर-ईसाई छात्रों के साथ ना-इनसाफी की जा रही है। सभी मास्टर ईसाई हैं। ऐसे में होरो को सबसे ज्यादा नम्बर मिलना कौन सी बड़ी बात है? लेकिन यह भयानक अन्याय है!

हमारे आरोप को दिल से स्वीकार किया था, इकलौते गैर-ईसाई शिक्षक, संस्कृत पढ़ाने वाले वैजनाथ शर्मा- पण्डित जी ने।

पण्डित जी ने हमें तसल्ली दी-- "क्या करोगे बेटा? पादरियों के स्कूल में ऐसी नाइनसाफी होती ही रहती है। आगे की पढ़ाई के लिए यूनिवर्सिटी जाना है, वहीं पता चल जायेगा, किसकी क्या औकात है"।

प्रमोशन के बाद नये साल में होरो एक और जिद्दीपन का काम कर बैठा। खाली पैर हॉकी खेलने से भी भयानक। स्टीफन होरो ने अतिरिक्त विषय अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत लिया। सभी ईसाई शिक्षक उसे धमकाने लगे। प्रिंसिपल फादर लिण्डन नाराज हो गये। पण्डितजी अद्भुत हँसी हँसने लगे। फिर भी अनार्य होरो अपनी संस्कृत पढ़ने की जिद्द से रत्तीभर नहीं डगमगाया।

पण्डितजी हम सबको किनारे बुलाकर एक असहज हँसी हँसते हुए बोले-- "स्टीफन होरो ने संस्कृत लिया है। अब क्या? क्या पता देवभाषा के नसीब में क्या है?"

पण्डितजी हँसने लगे। हमें कुछ-कुछ शक होने लगा। पण्डितजी की मुस्कान देखकर! चलो।

बहुत जल्द ही इसके बाद की कई घटनाओं में हमारे सभी संशय, आशंका, क्रोध और ज्यादा बढ़ते गये।

न्यू टेस्टामेण्ट से डेविड की कहानियाँ शुरू से आखिर तक सटीक बताने के लिए पहला इनाम स्टीफन होरो को मिला। दूसरे, तीसरे और चौथे इनाम की शर्म से चेहरा लटकाकर हम लोग बैठे रहे। फादर लिण्डन बहुत खुश होकर होरो की तारीफ करते हुए बोले-- "वादा करता हूँ, मेट्रिक पास करने के बाद होरो तुम्हें जरूर दरोगा बना दूँगा"।

फादर लिण्डन इतना काम आसानी से कर सकते हैं। इतनी सिफारिश करने की हैसियत तो उनकी है ही। लेकिन अगर होरो की जिन्दगी का मकसद इतना ही है, तो उसके लिए हम कतई नहीं जलते। उसके लिए मेहनत करके न्यू टेस्टामेण्ट रटने की जरूरत भी नहीं है।

हमने अगले ही दिन बाइबिल की क्लास में होरो को बिलकुल अलग रूप में देखा, जो हमें बिलकुल भी समझ में नहीं आया।

बाइबिल की क्लास में एकदम आखिरी बेंच पर होरो बैठा था। पढ़ाते हुए फादर लिण्डन बार-बार खुशी से होरो की तरफ सवाल फेंक रहे थे-- "स्टीफन तुम ही जवाब दो। सबसे बेहतर तुम ही बोलोगे"।

"मालूम नहीं सर!" स्टीफन की रूखी आवाज ने हम सबको चौंका दिया। नाराज और रूखा स्टीफन होरो का चेहरा डेस्क पर झुका हुआ है। जैसे वह फादर लिण्डन की तरफ देखना ही नहीं चाहता है। फादर लिण्डन के सुनहरी दाढ़ी के ऊपर गोरे चेहरे पर गुस्से से थोड़ी लाल आभा दिखायी दी। स्टीफन की तरफ देखते हुए गुस्से की आवाज में उन्होंने पूछा-- "स्टीफन, आज क्या अपने दिमाग को दरवाजे के बाहर छोड़ आये तुम? जवाब क्यों नहीं दे पा रहे हो?"

"मालूम नहीं सर।" फिर वही स्पष्ट, निर्भय और निश्छल जवाब सुनकर, धड़कने तेज होने लगी। अचानक समय से पहले फादर लिण्डन क्लास खत्म करके चले गये।

लेकिन स्टीफन होरो इतना गुस्सा क्यों है? इतना नाराज क्यों है? न्यू टेस्टामेण्ट का रट्टा मारकर उसने किस पर अहसान किया हैं? क्या चाहता है वो? हाउस ऑफ लॉर्ड्स की सदस्यता?

इसके बाद फँसे पण्डितजी। कुछ दिनों से पण्डितजी का चाल-ढाल भी कुछ सही नहीं लग रहा था। ऐसा लगता था हमसे पीछा छुड़ाकर कुछ बेहतर महसूस कर रहे हैं। सामने आते ही किसी न किसी बहाने से चले जाते हैं। लेकिन पण्डितजी से कितने कुछ सवाल करने हैं। फर्स्ट टर्मिनल इम्तेहान खत्म हो चुके हैं। अभी तो वक्त है प्रमोशन और पोजीशन के बारे में फालतू गप्प हाँकने का। पण्डितजी ने अपना हाथ खोल कर कई बार ईसाई शिक्षकों की साजिश से हमें बचाया है। इसलिए आज भी जानना चाहते हैं, उन्होंने किसके लिए क्या किया? एक बार अगर छाती ठोककर इन्दु को पिचासी दे दें, तो उसका फर्स्ट होना कोई नहीं रोक सकता। सभी ईसाई साजिशों के मुँह पर तमाचा लग जायेगा।

पण्डितजी के घर गये, लाइब्रेरी में अकेले मिले, सड़क पर रोका। लेकिन मिलते ही पण्डितजी कुछ इधर-उधर की बात करके जैसे कुछ छुपाना चाहते हैं। हम लोगों का शक और बढ़ता गया।

आखिरकार तुतलाकर, दो बार सर खुजलाते हुए पण्डितजी ने सच उगल ही दिया। संस्कृत में स्टीफन होरो को सबसे ज्यादा नम्बर मिले हैं-- सौ में से पिचहत्तर।

और इन्दू? हमारे सवाल से थोड़ा घबराकर पण्डितजी ने मुँह लटका कर कहा-- "बत्तीस"

सिर्फ बत्तीस! पण्डितजी जैसा विश्वासघाती दुनिया में कोई और नहीं है। हम गुस्से में खुद को सम्भाल नहीं पा रहे थे। पण्डितजी ने विनती के अन्दाज में कहा-- स्टीफन होरो ने इतनी शानदार संस्कृत लिखी है। यह तो तुम लोगों का गौरव है, आर्य

भाषा का गौरव। तुम लोगों को इसमें खुश होना चाहिए। ये होरो की जीत नहीं है, संस्कृत भाषा की जीत है।

भाड़ में जाये संस्कृत भाषा की जीत। इन्दू फर्स्ट नहीं आयेगा-- ये आर्यत्व की कितनी बड़ी हार है, बंगालियों का कितना बड़ा अपमान है, पण्डितजी समझे नहीं। लेकिन हम लोग समझ गये-- पण्डितजी दरअसल बिहारी हैं, इसलिए।

लेकिन हवा में वो परम गुण है, जिसके चलते सौ अन्याय की दीवार के बावजूद धर्म अपना काम कर लेता है। लाइब्रेरी में जिस दिन जाकर हम लोगों ने बोर्ड में टँगी नम्बर लिस्ट देखी तब हमें यकीन हुआ कि, सच्चाई की जीत है और झूठ की हार तय है।

इन्दु ही पहला आया है। स्टीफन होरो उसके बहुत नीचे है। स्टीफन होरो को एकमात्र संस्कृत छोड़कर अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल-- सभी विषयों में बहुत कम नम्बर मिले हैं। यह सोचकर हम लोग हैरान हो गये कि ईसाई शिक्षक होरो पर खफा क्यों हो गये?

कुछ और समय बाद स्टीफन होरो हमारी समझ से परे हो गया। सिर्फ हमारे लिए ही नहीं, खाल्खो, टिग्गा, बेसरा सभी कहते हैं-- पता नहीं होरो को क्या हो गया है!

बड़े दिन के त्यौहार पर हम सब भी शिलवारा के जंगल में पिकनिक मनाने गये थे। खाना बनाने की जलावन के लिए हम पूरे उत्साह में एक सूखे पेड़ को तोड़ने में लगे हुए थे कि, अचानक देखा पानी की धार के बराबर में हाथ में एक गुलेल लिए होरो चल रहा था। हमने चिल्लाकर होरो को बुला लिया। होरो जब ऐसे अचानक आ ही टपका है, तब वो भी पिकनिक का थोड़ा मजा साझा कर ही ले। पुलाव बनेगा, माँस है, दही है, वैकुण्ठ हलवाई का सन्देश भी है। खाकर होरो खुश होगा। एकदम सीधा-सादा मुण्डा है, शायद ही जिन्दगी में कभी ये सब खाया होगा।

होरो हमारी तरफ आया। नजदीक आकर एक साल के पेड़ को ध्यान लगाकर देखने लगा उसके बाद गुलेल से निशाना लगाया। एक हष्ट-पुष्ट गिलहरी जख्मी होकर मिट्टी पर आ गिरी। होरो ने कूदकर उसे अपनी जेब में डाल लिया।

त्रस्त होकर हमने पूछा-- उसका क्या करोगे स्टीफन?

"खाऊंगा", बिना किसी संकोच के होरो ने कहा। फिर भी हमने अपनी नफरत को दबाकर होरो को खाने के लिए बुलाया और उसे कहा, "उसे फेंक दो स्टीफन। पागल कहीं का। पिकनिक में आओ साथ खायेंगे"।

"नहीं"। बिलकुल सफेद बत्तीसी दिखाकर होरो ने मना कर दिया।

स्टीफन ऐसे जंगली क्यों बनता जा रहा है? रिचर्ड टुडू ने एक दिन फुसफुसाकर हम लोगों से कहा-- होरो सच में ही जंगली हो गया। शायद जल्द ही पागल हो जायेगा। फादर लिण्डन ने चेतावनी दी है कि, कोई उसके साथ न मिले-जुले।

हमने पूछा-- "ऐसा क्यों टुडू?"

टुडू-- "एक बूढ़े सोका के साथ उसकी खूब जम गयी। होरो छूपकर हर मंगलवार को हाट जाकर उस सोका से मिलता है"।

"उससे ऐसा क्या हो गया?"

टुडू ने अपने चेहरे को टेढ़ा बनाकर कहा-- "कुछ नहीं? उसने बाइबिल का अपमान किया है। चर्च नहीं जाता है। किसी की बात नहीं सुनता है। तीन दिन हॉस्टल में भी नहीं था। उसे निकाल देंगे"।

"हॉस्टल में नहीं था? फिर कहाँ था?"

टुडू ने अपनी आवाज को कम करते हुए कहा-- "बुरू गया था। वहाँ खूब नाच-गाना करके आया है। जी भर के इली (स्थानीय शराब) पीकर नशा किया है। इसके अलावा..."

अचानक रुक कर टुडू ने कहा-- "किसी को बोलना मत होरो को पता चलेगा, तो मुझे मार ही डालेगा"।

टुडू को आश्वासन देते हुए मैंने कहा "नहीं, किसी को नहीं पता चलेगा, तुम बताओ"।

टुडू-- "एक लड़की के साथ उसकी दोस्ती हुई है। उसका नाम है चिरकी, मोरंगी पहाड़ के मुर्मूओं की लड़की है"।

हम टुडू की बातें मानो मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। हमारा ही सहपाठी गरीब मुण्डा होरो, उम्र ही क्या है उसकी। फिर भी होरो एक ही पल में आज बाइबिल की क्लास, संस्कृत के नम्बर और हॉकी खेलने के सभी तरह के मजे को खराब करके, एक रोमांचक प्रेम के विद्यालय में अनजाने से ही नाम लिखवाकर आया है। ऐसा लगा उस लड़की को हम देख पा रहे थे, जिसका नाम चिरकी मुर्मू है। गले में साल के फूलों की माला, जूड़े पर जंगली गुड़हल लगाकर, पानी के धार जैसी खिलखिलाती हँसी के बन्धन में होरो के काले दिल की सभी चंचलता को बाँधकर किसी वीरान घाटी में ले गयी है। क्या मजाल है कि होरो वहाँ से वापस लौट आये। और आएगा भी तो किसलिए?

टुडू तब भी बूढ़े जैसी बातें कर रहा था-- "मुर्मू लोग बोंगा पूजते हैं। उनके साथ मेलमिलाप बढ़ाना सही है क्या? होरो बड़ी गलती कर रहा है।

स्टीफन होरो को हॉस्टल से निकाल दिया जायेगा, ये बस एक अफवाह बनकर रह गयी। हमने देखा, दरअसल होरो को निकाला नहीं गया। कभी अपनी मनमर्जी से क्लास में आता है और कभी नहीं आता। वफादार छात्र होरो से दूरी बनाकर चलते हैं। जैसे एक तरह से जात निकाला हो गया है।

रिचर्ड टुडू ने जो आशंका जतायी थी, वास्तव में उसका उल्टा ही हुआ है। होरो को हॉस्टल से नहीं निकाला गया। वहीं रहता है, लेकिन ऐसा लगता है कि उसके ऊपर हर कायदे-कानून लागू करना मना कर दिया गया है।

बल्कि गजब तो ये था कि, कभी-कभार शाम को फादर लिण्डन और होरो को एक साथ टेनिस खेलते हुए देखकर हम लोग अवाक हर जाते थे। टुडू, बेसरा, टिग्गा ये सब होरो से ज्यादा काले और ज्यादा वफादार ईसाई हैं लेकिन आज तक उन्हें फादर लिण्डन के टेनिस खेलने के वक्त सिर्फ बॉल ला देने तक का ही सम्मान मिला है, उससे ज्यादा कुछ नहीं। और स्टीफन एकदम वाकई गजब बात थी!

हॉस्टल के बगीचे में शाम को पानी डालने की जिम्मेदारी होरो की थी। इस काम के बदले होरो का हॉस्टल में रहना-खाना फ्री था। हमने देखा होरो बगीचे में नहीं जाता है और न ही पौधों में पानी डालता है। अब बगीचा सम्भालने की जिम्मेदारी टिग्गा के कन्धों पर लाद दी गयी है। सुबह रसोई के लिए लकड़ी फाड़ना भी उसी का काम है, उस पर फिर पौधों में पानी भी बेचारे को डालना पड़ता है। टुडू ने आते ही एक और खबर बतायी कि "स्टीफन को आजकल हाट से सौदा सामान लाने का काम नहीं मिलता है। वह हर मंगलवार को फादर लिण्डन के कमरे में बैठकर पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस (ईसाई धार्मिक ग्रन्थ) पढ़ता है। सुना है, पढ़ाई खत्म होने के बाद होरो चाय-बिस्कुट का मजा लेता है, ये सब फादर लिण्डन उसे खिलाते हैं।

हम लोगों की उत्सुकता, कौतुहल, चर्चा और शोध की कोई सीमा नहीं थी। सबकी नजरों से ओझल होते हुए, कितनी बड़ी एक लड़ाई का माहौल बन रहा है, यह अन्दाजा लगाने में हम लोग थोडा बहुत सक्षम थे ही। एक तरफ कैम्ब्रिज से एम.ए. पास शिक्षित, सभ्य और श्रद्धेय फादर लिण्डन थे, दूसरी तरफ जंगली मुण्डा डीही का बूढ़ा सोका, गरीब से भी गरीब नगण्य सा अधनंगा, बर्बर वेश वाला एक जादूगर। जैसे दो अलग जमाने की लड़ाईयाँ-- बीसवीं सदी बनाम प्राक-इतिहास, बूढ़ा सोका शायद यह भूल नहीं पाता है कि, अगवा करने वाले पादरी उसके लड़कों को अगवा कर चुके हैं, होरो को ईसाई बना दिया है। उसी का बदला लेगा बूढ़ा सोका। वह इन सुसभ्य राक्षसों के किलों से जंगल के लड़कों को फिर वापस ले जायेगा।

शायद इसीलिए फादर लिण्डन सचेत हो गये। स्टीफन होरो अगर फिर से जंगली हो जाए, उस हार का अपमान कुछ ज्यादा ही घातक होगा, सहना मुश्किल होगा। लिण्डन जानते हैं हर मंगलवार को बूढ़ा सोका हाट आता है। एक जंगली आत्मा बदला लेने के लिए आस-पास भटक रही है। चाय-बिस्कुट-टेनिस की सभ्यता का प्रसाद खिलाकर फादर लिण्डन जैसे होरो को अपने वश में रखता चाहते हैं।

हम लोग बोलते थे-- पानीपत की चौथी लड़ाई है, देखते हैं कौन जीतता है?

गुड फ्राइडे की छुट्टी में सभी को अपने घर जाने की छुट्टी मिली। टुडू, टिग्गा, बेसरा, खाल्खो सब घर निकल गये। उनके लिए जाने की कोई दिक्कत नहीं थी। एक लम्बे डण्डे में अपनी पोटली लटकाकर जंगल के रास्ते तीस-चालीस मील लगातार चलते हुए अपने-अपने डीही में पहुँच जायेंगे। राह-खर्च की कोई खास जरूरत नहीं होती है। इतने पैसे खर्च करने की हैसियत भी उनकी नहीं है।

लेकिन होरो को घर भेजते हुए फादर लिण्डन जैसे बेचैन हो गये। जिस दिन होरो गया, हॉस्टल के पास सर्विस बस आकर खड़ी हुई। तभी हम सबने देखा फादर लिण्डन अपने बटुए से पैसा निकालकर होरो के लिए बस का टिकट खरीद रहे हैं।

हम लोगों ने आपस मे बाजी लगायी। होरो वापस आएगा या नहीं! इन्दु ने कहा-- "जरूर वापस आयेगा। फादर लिण्डन ने उसका जंगलीपन दूर कर दिया है। दो वक्त चाय-बिस्कुट का सुख और स्वाद कैसे भूलेगा होरो"।

मैंने कहा-- "होरो वापस आएगा ही नहीं। यहाँ चाय-बिस्कुट है, लेकिन उधर"

इन्दु-- "उधर क्या?"

मैंने कहा-- "चिरकी मुर्मू भूल गये?"

इन्दु थोड़ा हताश हो गया-- "अरे हाँ"

छुट्टी खत्म होते ही हॉस्टल की जिन्दगी में वापस जान आ गयी। सभी हॉस्टल आ गये स्टीफन होरो भी वापस आया है। इन्दु जीत गया। हम सब हताश हो गये। होरो पर गुस्सा आया, होरो वाकई बड़ा मूर्ख और बेअक्ल है!

लेकिन टुडू की कहानी सुनकर हम लोगों का दुख तुरन्त दूर हो गया। हमने सुनी बूढ़े सोका की कहानी, होरो की कहानी, चिरकी मुर्मू की कहानी। पलक झपकते ही हमारी कल्पना में होरो के जंगल की तस्वीर ऐसे थी जैसे, कहीं दूर खिले पलाश के जंगल के किनारे समन्दर में लहरें उठने लगी। इन्दु ने कहा-- "पानीपत की चौथी लड़ाई में बूढ़े सोका की जीत पक्की है"।

होरो के पड़ोसी डीही का लड़का है टुडू। टुडू गैर-ईसाईयों से नहीं मिलते हैं। फिर भी टुडू ने जासूसी करते हुए होरो के कारनामे देखे हैं। अपने जीते जी वह, फादर लिण्डन को कुछ नहीं बतायेगा। टुडू के दिल में होरो के लिए एक अटूट श्रद्धा और प्रेम है। वह उसके पास यह सब नहीं कह सकता था, इसीलिए हमारे पास आकर कहता है और वह ऐसा करके शायद अपना मन हल्का भी कर लेता है।

टुडू ने देखा है-- एक दिन होरो ने तीर-धनुष से एक हिरण मारा था। होरो हाथ में धनुष लेकर पानी की धारा के पास खड़ा था। चिरकी मुर्मू उसके पैर धो रही थी।

टुडू ने देखा है-- एक दिन चिरकी अपने गाँव की गितिः ओरः से चाँदनी रात को छिपकर बाहर निकल आयी, तभी होरो ने अँधेरे से निकलकर उसका हाथ पकड़ा और कहीं ले गया।

टुडू ने देखा है-- होरो ईसाई होकर भी अखाड़े में मादल बजाने गया था, जहाँ चिरकी भी नाचती है। बूढ़ा सोका होरो से प्यार करता है, इसीलिए कोई होरो से नफरत नहीं करता है।

टुडू ने कहा-- होरो ने जंगलियों के साथ मिलकर दो दिन तक सेन्देरा किया है। टाँगी त्यौहार में पागल जैसा नाचा। उसने सेमल के पेड़ में आग लागायी और फिर सबसे पहले आग में कूदकर उस पेड़ को काटा भी।

टुडू ने अपनी आवाज दबाते हुए डरे अन्दाज में कहा-- "मैंने देखा है, होरो उसके बाद अपने जले हुए बदन पर ठण्डी हवा लगाने के लिए सबसे किनारे होकर दूर खड़ा हो गया। चिरकी मुर्मू ने धीरे से आकर होरो को अपनी बाहों में भर लिया था।"

हम सब साँझ के अँधरे में हॉस्टल के पास ही छोटे से मैदान में बैठकर टुडू की कहानी सुन रहे थे। अचानक हॉस्टल की बालकनी से एक बाँसुरी की आवाज आने लगी। तभी टुडू उसके साथ ताल मिलाकर सर हिलाते हुए गाने लगा--

'राता माता बिरको ताला
रे नालो होम निर जा
रंगा इंगा

टुडू के मदमस्त अन्दाज को देखने से लगा कि, अभी वह नाचने लगेगा

कौन बाँसुरी बजा रहा है?

हमारे व्याकुल सवाल पर टुडू ने गाना रोककर कहा-- यह वही गाना है। होरो वही धुन बजा रहा है। कौन सा गाना?

"चिरकी मुर्मू का गाना।"

"इस गाने का मतलब क्या है टुडू?"

टुडू ने जवाब दिया-- गाने का मतलब, "सुनो मेरे जवान दोस्त, भागो मत, इस घने जंगल में मुझे अकेला छोड़कर भागो मत।"

अनजाने में ही एक खास किस्म का मजा हमारे दिल में छाने लगा। मैंने कहा-- "टुडू यह तो हमारे जैसा ही गाना है"

इन्दु ने दबी आवाज में गाना शुरू किया-- "सुनो-सुनो हे प्राण पिया..."

थोड़ी देर तक हम सब मंत्रमुग्ध जैसे चुपचाप बैठे थे। शायद मन ही मन चिरकी मुर्मू नाम की जंगली बेल जैसी उस लड़की को तसल्ली दे रहे थे कि नहीं, नहीं! तुम्हारा दोस्त नहीं भागेगा। हम सब दुआ करते हैं, होरो तुम्हारे पास वापस आयेगा।

तभी हम सब फादर लिण्डन की धमकी सुनकर चौंक गये। हॉस्टल की बालकनी पर अँधरे में जैसे एक कुश्ती चल रही है। टुडू दौडकर देखने गया और परेशान आवाज में हाँफते हुए बोला-- "फादर लिण्डन ने होरो की बाँसुरी तोड़ दी है।"

हम सबसे दिल में एक साथ ही बदले की आग जल उठी। हमने गुस्से में कहा-- "होरो ने दो चार हाथ नहीं लगाये?"

टुडू ने बुझे अन्दाज में कहा-- "मुझे न जाने क्यों डर लग रहा है। होरो बहुत जिद्दी है। वह फादर को इसका मजा चखा देगा।"

लेकिन इसके बाद हमें होरो के जिद्दीपन का कोई सबूत नहीं मिला, बल्कि उससे उलट हमने देखा कि फादर लिण्डन ने जिद पकड़ी हुई है, उनका अभियान शुरू हो गया है। वह हर हफ्ते एक बार कभी भोजपुरी लठैत तो कभी आठ-दस कांस्टेबल साथ लेकर दौरे पर निकलते हैं। नजदीकी थाने में चिट्ठी लिखते ही कांस्टेबल आ जाते हैं। उसके बाद जैसे फादर एक लड़ाकू दस्ता लेकर दो-चार दिन के लिए जंगल में गायब हो जाते हैं। वाकई वह एक धर्मयोद्धा हैं। हम लोग बस मुँह लटकाकर यही सोचते थे कि कब फादर लिण्डन का यह रहस्यमय आना-जाना खत्म होगा? कब उनके लाल चेहरे का गुस्सा शान्त होगा?

टुडू से यह सब सुनते ही कहानी समझ में आ गयी। फादर लिण्डन का अभियान मोरंगी पहाड़ के मुर्मुओं की डीही में ही शुरू हुआ है। पहाड़ में एक मिट्टी का गिरजाघर भी बना चुके हैं। उन्होंने जंगल के अन्दर घुसकर जैसे लाखों साल पुराने बोंगाओं की पत्थर की बेदी की जड़ों को हिला दिया है।

बस कुछ ही दिन बाद सुना कि मोरंगी पहाड़ में कुछ हंगामा हुआ है। किसी ने मिट्टी का गिरजा तोड़कर धूल में मिला दिया है। किसने किया है?

जिसने यह किया है, हम लोगों ने उसे अपनी आँखों से देखा है। वह बूढ़ा सोका है। हमने भी सेशन जज की अदालत की भीड़ में घुसकर वह फैसला सुना-- उसे ताउम्र देश निकाला दे दिया गया था।

हॉस्टल के बगीचे के बूढ़े बरगद की झुर्री में लटककर झूलते हुए स्टीफन होरो को हम देखते थे। स्टीफन होरो जैसे एक असहनीय ज्वलन को ठण्डा करने की कोशिश करता रहता था।

देश भर में असहयोग आन्दोलन की आँधी चली, हमने स्कूल छोड़ने का फैसला किया। जलियाँवाला बाग का अपमान, हमें बेचैन कर चुका था।

हम बंगाली और बिहारी लड़कों ने स्कूल छोड़ दिया। राजाओं के बेटों में से किसी ने नहीं छोड़ा। इसाई लड़कों ने भी नहीं-- टुडू, बेसरा, टिग्गा, खाल्खो कोई नहीं। हम लोग धरना प्रदर्शन करके उन्हें रोकने लगे।

हमें उम्मीद थी कि होरो हमारे साथ आयेगा। फादर लिण्डन ने जिस तरह से उसे अपमानित किया है जिन्दगी में वह शायद किसी पादरी या सफेद चमडी के आदमी को नहीं सहेगा।

हम लोग स्कूल के फाटक पर धरना प्रदर्शन कर रहे थे। देखा, होरो आ रहा है। आजाद भारत की जय! जयकारा देते हुए हमने, होरो का स्वागत किया।

होरो ने आगे आकर इन्दु को धक्के से हठाकर, परेश के हाथ को ठेलकर जंगली सुअर जैसे रास्ता बनाकर, क्लास में घुस गया।

उसी दिन हमने होरो को सही तरह से पहचाना पादरियों का गुलाम, इनसानियत से बेखबर, स्वाभिमान से वंचित, मूर्ख जंगली होरो। आजाद भारत को पहचान नहीं पाया तू! थोडी भी इज्जत नहीं की। लेकिन तेरा जंगल तो भारतवर्ष के अन्दर ही है रे, जंगली साँड भारतवर्ष के बाहर तो नहीं!

आठ साल बाद की बात है, तब मैं लोपो थाने का दरोगा था। सुबह-सुबह हाजिरी लगाने कुछ बिरसाईट आये हैं, वो जेल से आज ही रिहा हुए हैं। यहाँ हाजिरी लगाकर अपने-अपने डीही चले जायेंगे। बिरसाईट लोग बहुत संदिग्ध जीव हैं। पुलिस को तंग करते हैं। जंगलात के कानून नहीं मानते, महाजनों को पीटकर भगा देते हैं, चौकीदार को टैक्स देना नहीं चाहते हैं। बाजार लगे तो चुंगी देने से मना करते हैं। जमीन कुर्क करने जाओ तो अदालत के प्यादे को कुल्हाड़ी लेकर काटने आते हैं। बिरसाईट लोगों ने दो साल पहले एक बार स्वराज घोषित किया था। पादरियों को मारा, पुलिस को मारा, कई पुल तोड़ दिये। उनके साथ ओरमांझी के जंगल में एक छोटी-मोटी लड़ाई भी हुई थी।

सबसे आखिर में हाजिरी लगवाने जो आया, उसका नाम है रुन्नू होरो।

मैंने बही से आँख उठाकर देखा। उसके सर के घुँघराले बाल जटा जैसे हो गये हैं, गले में किसी जंगली फल की माला और नंगा बदन। हाथ में कड़ा और कमर पर बस कपड़े का छोटा टुकड़ा है। इस प्राक-ऐतिहासिक वेश-भूषा के बीच बस एक जोड़ी धारदार आधुनिक आँखे हैं।

अचरज छुपाते हुए उसके चेहरे की तरफ देखते हुए मैंने कहा "स्टीफन होरो!!"

मीठी सी मुस्कान के साथ उसने कहा "नहीं, नहीं। घोष मैं रून्नू होरो हूँ।"

तुम भी एक बिरसाईट हो?

"मैं बिरसा भगवान का शिष्य हूँ।"

"बिरसा भगवान? वो कौन है?"

"घोष, वो हमारे गाँधी थे। मैंने अपनी आँखों से उन्हें नहीं देखा है, पिताजी से उनके बारे में सुना है। हमारे बिरसा भगवान अंग्रेजों के कैद में एक कैदी की तरह मारे गये। घोष तुम्हें पता है वो दिखने में कैसे थे?"

"कैसे?"

"ईसा मसीह जैसे।"

थोड़ा चुप रहकर होरो ने कहा "हमारे जंगल के अन्दर बाहर से बहुत से पाप आकर घुस गये हैं। इसीलिए बिरसा भगवान ने हमें आगाह कर दिया है। उनका कहा कैसे भूल जाएँ।"

मैंने पुकारा "स्टीफन होरो।"

होरो ने विरोध जताया, "रून्नू होरो कहो।"

मैं चुप हो गया। होरो खुद ही खुश होकर बहुत सी खबरें पूछने लगा-- "इन्दु कहाँ है? परेश क्या कर रहा है?"

चारों तरफ नजर घुमाकर सावधानी से होरो से मैंने पूछा "इतने दुबले कैसे हो गये तुम?"

होरो, "मुझे टीबी हुआ है। अच्छा अब चलता हूँ।"

बस एक बात जानने के लिए बेचैनी हो रही थी। मैं फिर भी झिझक तोड़ नहीं पा रहा था। आखिरकार हिम्मत करके मैंने पूछ ही लिया-- "होरो, एक बात जानने का खूब मन कर रहा है।"

होरो-- "पूछो।"

मैंने पूछा-- "चिरकी मुर्मू कहाँ है?"

होरो का शान्त जवाब आया-- "ओह, तुम्हें नहीं पता है? वह फादर लिण्डन की मिशन में शामिल हो गयी है। वह आजकल हजारीबाग के कान्वेण्ट में रहती है।"

स्टीफन की नजर तीर जैसी चमकने लगी, उन आँखों में बस नमी थी। मुझसे और कुछ पूछा नहीं गया। स्टीफन भी चुपचाप चला गया।

किसी को अपने मुँह से बोलते हुए शर्म आयेगी। एक गलती की याद थोड़ी देर तक काँटे की तरह चुभ रही थी। शायद हम लोगों ने ही निष्पक्ष रहकर पानीपत की चौथी लड़ाई में स्टीफन को हरा दिया था। स्टीफन भी बनवास को चला गया।

(बांग्ला से अनुवाद-- अमित इकबाल)

दिल्ली सरकार की 'स्कूल्स ऑफ स्पेशलाइज्ड एक्सलेंस' की योजना : एक रिपोर्ट!

-- लोक शिक्षक मंच

पृष्ठभूमि

13 अगस्त को दिल्ली सरकार ने घोषित किया कि नवगठित दिल्ली बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन को कॉउन्सिल ऑफ बोर्डस ऑफ स्कूल एजुकेशन और एसोसिएशन ऑफ इण्डियन यूनिवर्सिटीज से मंजूरी मिल गयी है। शिक्षा मंत्री ने जो इस बोर्ड के प्रमुख भी हैं, यह भी कहा कि इण्टरनेशलन बॅकलॉरियट (आईबी) के साथ मिलकर काम करने से बच्चों के लिए 'विश्वस्तरीय' अवसर खुलेंगे।

द हिन्दू में 12 अगस्त को छपी एक रपट के अनुसार इस नवगठित बोर्ड ने इण्टरनेशलन बॅकलॉरियट के साथ एक समझौता किया है जिसके तहत इसी सत्र में दिल्ली सरकार के तीस स्कूलों में पाठ्यचर्या, शिक्षाशास्त्र और मूल्यांकन के क्षेत्रों में 'वैश्विक चलन' अपनाये जाएँगे। रपट में कहा गया कि नवगठित बोर्ड से सम्बद्ध दस सर्वोदय स्कूलों के नर्सरी से आठवीं तक के विद्यार्थी और 20 'स्कूल्स ऑफ स्पेशलाइज्ड एक्सेलेंस' (एसओएसई, यह स्पष्ट नहीं है कि इन्हें हिन्दी में कोई नाम दिया गया है या नहीं) के नवीं से बारहवीं तक के विद्यार्थी अब उच्चतम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा पा सकेंगे। अमरीका, कनाडा, स्पेन, जापान और दक्षिण कोरिया जैसे 'विकसित देशों' की सरकारों के उदाहरण देते हुए मुख्यमंत्री ने बताया कि इण्टरनेशनल बॅकलॉरियट 159 देशों में 5,500 स्कूलों के साथ मिलकर काम कर रहा है। उन्होंने इस पहल को सबसे वंचित लोगों के लिए सर्वश्रेष्ठ गुणवत्ता की शिक्षा उपलब्ध कराने के मॉडल के रूप में व्याख्यायित किया। कहा गया कि आईबी के मार्गदर्शन में स्कूलों की जाँच-परख की जाएगी और उन्हें सुधारने के उपाय बताये जाएँगे, जिसमें प्रशिक्षण आदि शामिल होगा, जिससे और स्कूलों को नवगठित बोर्ड से सम्बद्ध होने की प्रेरणा मिलेगी। शिक्षा मंत्री ने बताया कि सरकार का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि दिल्ली के विद्यार्थी वैश्विक नेता बनें। यह भी बताया गया कि आईबी सरकारी बोर्ड के साथ ज्ञान सहयोगी (नॉलेज पार्टनर) की तरह काम करेगा।

लोक शिक्षक मंच इन स्कूलों की संकल्पना और सिद्धान्त पर कुछ बिन्दु और प्रश्न साझा करते हुए, माँगों सहित एक बयान सार्वजनिक कर रहा है।

सिर्फ 'कुछ' गड़बड़ नहीं है, बल्कि 'सब कुछ' ही गड़बड़ है

अगर दिल्ली की, या कोई भी सरकार कुछ विशिष्ट स्कूल खोलकर बच्चों को पढ़ाई का 'सर्वोत्तम महौल देने का दावा करती है, तो अखिर हमें क्या समस्या हैं? हमें इस पूरी सोच से ही अनेक दिक्कते हैं, जो नीचे दर्ज हैं।

1. जब कोई सरकार अपने सभी शिक्षा संस्थानों पर बराबर ध्यान नहीं देना चाहती, तब वह इनमें से कुछ संस्थानों को चमकाकर वाहवाही लूटने की राजनीति करती है। प्रतिभा विद्यालय भी तो इसी राजनीति का हिस्सा थे जिनमें स्कूलों से बच्चों को छाँटकर ले जाया जाता था और उन्हें 'बढ़िया' शिक्षा दी जाती थी। मतलब, क्या सरकार खुद यह स्वीकारती है कि वह अपने सभी स्कूलों में अच्छी शिक्षा देने में विफल है?

इसके बाद स्कूल ऑफ एक्सेलेंस गैर-बराबरी की मिसाल बने और अब इस बहुपरती व्यवस्था की नाइन्साफी छुपाने के लिए इस पर एसओएसई की नयी क्रीम पोती जा रही है।

2. पहले निगम और निदेशालय के स्कूलों में दो साल पढ़ने पर ही प्रतिभा स्कूलों में प्रवेश के लिए परीक्षा दी जा सकती थी। ऐसा इसलिए किया गया था कि प्रतिभा जैसे विशिष्ट सार्वजनिक स्कूलों में उन बच्चों को पढ़ने का मौका सुरक्षित हो जो सरकारी स्कूलों से आये हैं। अब यह शर्त हटा दी गयी है। इनमें केवल 50 प्रतिशत प्रवेश ही सरकारी सकूल से पढ़े बच्चों के लिए सुरक्षित होगा। जिसका मतलब है कि 50 प्रतिशत सीटें प्राइवेट स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए अपने-आप सुरक्षित हो जाएँगी। इसका नतीजा यह भी होगा कि अब एक ही विद्यालय में विद्यार्थियों के दो वर्ग होंगे। सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए मौके

बढ़ेंगे नहीं, घटेंगे।

3. इन खास विद्यायलों में प्रवेश के लिए अब बच्चे गलाकाट प्रतिस्पर्धा करेंगे। वैसी ही प्रतिस्पर्धा जो हम मेडिकल या इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षाओं में देखते हैं। जाहिर है, यहाँ शिक्षा अधिकार अधिनियम का 'कोई प्रवेश परीक्षा नहीं' लेने का सिद्धान्त मायने नहीं रखेगा।

क्या प्रतिस्पर्धा पर खड़े ऐसे विद्यालय से कोचिंग केन्द्रों के लक्षणों का आभास नहीं होता है? ये विद्यालय सिर्फ नये तरह के संस्थान नहीं हैं, बल्कि ये नये तरह के नवउदारवादी शिक्षा दर्शन के परिणाम हैं। इनसे आम सार्वजनिक स्कूलों का महत्व और कम होगा।

4. एक सवाल यह भी है कि 'सर्वोतम शिक्षा' की परिभाषा क्या है। अगर एसओएसई में बच्चों को मेडिकल, इंजीनियरिंग, कानून आदि की प्रवेश परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाएगा तो इस काम के लिए तो कोंचिंग इण्डस्ट्री के केन्द्रों की भीड़ पहले से मौजूद है। सरकारी स्कूलों को कोंचिग केन्द्र बनाने की क्या जरूरत आन पड़ी?

या तो सरकार को अपनी शेखी बघारने के लिए ऐसा करना पड़ रहा हैं ताकि वह विज्ञापनों में प्रचारित कर सके कि 'सरकारी स्कूलों के 100-200-300 बच्चों ने आईआईटी में प्रवेश लिया, या फिर मध्यम-वर्गीय अभिभावकों के एक हिस्से को खुश करना पड़ रहा है कि उनके बच्चे को भी महँगी कोंचिग वाली तैयारी सरकारी स्कूल में मुफ्त करायी जाएगी या फिर सरकार चाहती है कि जनता ज्यादातर सरकारी स्कूलों में दी जा रही दोयम दर्जे की शिक्षा (जिनमें महज साक्षरता प्रोग्राम पर जोर है) पर बात करने के बजाय एसओएसई की चकाचौंध में खो जाये।

5. हम इस कोंचिग को शिक्षा नहीं 'प्रति-शिक्षा' यानी शिक्षा का दुश्मन मानते हैं। कोंचिग का जो बाजार दशकों से भारत, चीन, कोरिया जैसे विकासशील देशों में फल-फूल रहा है, उसका इतिहास दागदार है। जिस व्यवस्था में एक नौकरी के लिए हजारों अभ्यार्थी खड़े हैं, उसमें कुछ मुनाफाखोर इस तंगी को प्रतिस्पर्धा में बदलकर पैसे कमाने के साधन अवश्य ढूँढ लेंगे। हर एक 'सफल बच्चे' पर 1000 'असफल बच्चे' तैयार होंगे जो पिछडेंगे और मानसिक तनाव के शिकार बनेंगे।

भयावह यह है कि अभी तक जो विकृति सरकारी स्कूलों से बाहर थी, अब उस बीमारी को अन्दर घुसाया जा रहा है। जब मेडिकल, इंजीनियरिंग की शिक्षा का बाजारीकरण हो रहा था, तब तो हम उसे रोक नहीं पाये, उल्टा अब हमारे सरकारी स्कूलों को ही इस बाजार की दुकानें बनाने की तैयारी हो रही है।

6. यह भी अभी तक स्पष्ट रूप से सामने नहीं आया है कि इन विद्यालयों में वित्त, फीस, प्रवेश और नियुक्तियों में सामाजिक न्याय के संवैधानिक प्रावधान लागू होंगे या नहीं और अगर होंगे तो कैसे लागू होंगे। यह साफ नहीं है कि इन स्कूलों में शिक्षकों की नियुक्ति किन आधारों पर होगी। हमारा मानना है कि इन स्कूलों में निजी संस्थाओं की प्रस्तावित नियंत्रणकारी भूमिकाओं के चलते शिक्षकों की अकादमिक और पेशागत स्वयत्तता और गरिमा भी खतरे में पड़ जाएगी। इन पहलुओं के बारे में एक अघोषित चुप्पी है जिसे केवल सीमित आधिकारिक बयानों या प्रचारी रपटों से पोछा जा रहा है। इससे इन स्कूलों के प्रबन्धन करार की शर्तों आदि को लेकर गम्भीर शंकाएँ उभरती हैं।

7. क्या इनमें विशेष जरूरतों वाले बच्चों को प्रवेश मिलेगा? हम देखते आये हैं कि तथाकथित उच्च-स्तरीय या विश्वस्तरीय संस्थानों की चमक-धमक बनाने के लिए सबसे कमजोर की बलि ली जाती है, उन्हें बाहर रखकर ही ये संस्थान विशिष्ट होने का गर्व महसूस करते हैं और समाज में प्रतिष्ठा पाते हैं।

8. आज दिल्ली के सरकारी स्कूलों में कक्षा 6 से 8 के हर बच्चे पर मिशन बुनियाद थोपा जा रहा हैं। उन्हें केवल कामचलाऊ (हिन्दी और गणित) साक्षरता प्रोग्राम के लायक बताया जा रहा है। उनकी पाठ्यचर्या से सिद्धान्तों को खत्म कर दिया गया हैं। एक तरफ अधिकतम बच्चों के स्तर को गिराया जा रहा है और दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के नाम पर आईबी से करार करके विश्वस्तरीय शिक्षा देने का ढोल पीटा जा रहा है। यह कैसा विरोधाभास है?

दरअसल यह विरोधाभास नहीं, बल्कि इस व्यवस्था का एक अनिवार्य परिणाम है। वर्तमान अर्थव्यवस्था को जैसे श्रमिकों की जरूरत है, यह उन्हीं को तैयार करने की शिक्षा योजना है। अधिकतम बच्चे दोयम दर्जे की साक्षरता पाकर मशीन चलाने वाली लेबर फौज का हिस्सा बनेंगे। इनकी शिक्षा को गहन सिद्धान्तों से खाली करके इन्हें जागरूक सशक्त मजदूर बनने से रोका जाएगा। वहीं दूसरी तरफ मुट्ठीभर युवाओं को प्रशासकीय प्रबन्धकीय और अत्यधिक कुशल भूमिकाओं के लिए तैयार करने के लिए स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक प्रवेश परिक्षाओं की छलनियाँ बिछा दी जाएँगी।

9. दिल्ली सरकार एक तरफ 'देशभक्ति पाठ्यक्रम ला रही है और दूसरी तरफ 'अन्तर्रराष्ट्रीय नागरिक बनाने के घोषित मकसद वाले आईबी ला रही है, केन्द्र सरकार की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भी इसी तरह के दोमुँही आग्रह हैं। यह दोनों 'प्रतीकात्मक राष्ट्रवादी' तत्वों को खुश करके और जनता को भरमाकर शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को घुसाने की योजना का मिला-जुला पैंतरा है।

10. स्कूलबन्दी और कोरोना के सन्दर्भ में खासमखास स्कूल खोलना दरअसल खोलना नहीं, पुरानों को बन्द करके उनके सार्वजनिक जमीन-संसाधनों को 'विश्वस्तरीय' स्कूलों की मृगतृष्णा के नाम पर निजी नहीं तो अर्धनिजी हाथों में सौंपना है। और उनमें दाखिले के लिए प्रवेश परीक्षा आयोजित करना (जैसे कि सब कुछ सामान्य हो) शिक्षा और लोगों के जमीनी हालात के साथ एक क्रूर मजाक है।

कोरोना, तालाबन्दी और आर्थिक संकट के दबाव में सरकारी स्कूलों में बढ़ते दाखिलों के सन्दर्भ में जहाँ वक्त की माँग थी कि नये सरकारी स्कूल खोले जाये, पर्याप्त संख्या में नियमित शिक्षकों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति की जाये, प्राइवेट स्कूलों की मनमर्जी रोकी जाये आदि। सरकार ने ऐसा कुछ नहीं करके, बल्कि एक तरह से सार्वजनिक स्कूलों और उनकी 'सीटों' को कम करने की योजना बनाकर बच्चों के आधे-अधूरे अधिकारों को और सीमित कर दिया है।

जनता के सामने सवाल

क्या हमें सचमुच लगता है कि इन नयी परतों से सभी स्कूलों में एक-जैसी, एक समान गुणवत्ता वाली शिक्षा मजबूत होगी या अब हमने वह सपना देखना ही छोड़ दिया है? क्या इन विशिष्ट स्कूलों को खोलकर सरकार सभी बच्चों का भला कर रही है या कुछ बच्चों को छाँटकर बाकी को अपने हाल पर छोड़ रही हैं? ऐसे प्रोग्राम मौजूदा गैर-बराबरी को और बढ़ाएँगे या कम करेंगे?

हमारी माँग तो यह होनी चाहिए कि सभी सरकारी स्कूलों में एक समान फण्ड, बराबर ध्यान और एक समान गुणवत्ता वाली शिक्षा होनी चाहिए।

जनता भूखी है। उसे भूखा रखा गया है। अपनी जिम्मेदारी निभाने के नाम पर सरकार 100 में से 4 लोगों के लिए केक बनवाती है। विण्डबना यह है कि हम 100 लोग एक होकर सरकार से सवाल नहीं पूछते कि 96 लोगों का हिस्सा कहाँ गया, बल्कि इन 4 लोगों के हिस्से वाले केक के लिए आपस में लड़ने लगते हैं। साथ ही सरकार की वाहवाही भी करते हैं कि सरकार ने भूखे लोगों के लिए केक बनवाया!

सरकार जवाब दे!

1. अगर इन विशिष्ट स्कूलों में 'सर्वोत्तम शिक्षा' दी जाएगी तो अन्य सैकड़ों दिल्ली सरकार के स्कूलों को क्या कामचालाऊ शिक्षा देने के लिए खोला गया है? सरकार द्वारा सरकारी स्कूलों के बीच में ही यह भेदभाव क्यों?

2. हिसाब दीजिए कि जितने संसाधन एक एसओएसई को दिये जाएँगे, उसमें कितने सामान्य सरकारी स्कूल अपनी स्थिति सुधार सकते हैं। एक तरफ 15 विद्यालयों में कक्षा 11-12 के हर विद्यार्थी को टैब दिया जा सकता है, दूसरी तरफ सरकारी स्कूलों के हजारों बच्चों को मासिक इण्टरनेट डाटा के लिए कोई मदद नहीं पहुँचायी गयी। क्या हम कुछ विद्यार्थियों को टैब देने के लिए सरकार की वाहवाही करके इसके हाथ मजबूत करें या अधिकतम बच्चों को आधारभूत संसाधनों से वंचित रखने के लिए इसे कटघरे में खड़ा करें?

3. 10 विशिष्ट विज्ञान विद्यालय खोलने से कुछ नहीं होता। पहले सभी सरकरी स्कूलों में विज्ञान और कॉमर्स विकल्प वापस लेकर आओ, विज्ञान लैब को जिन्दा करो, हर बच्चे को वैज्ञानिक प्रयोगों का आदी बनाओ। तब तक यह दावा बेमानी है और भ्रमित करने वाला सस्ता प्रचार मात्र है कि सरकार ने विज्ञान की शिक्षा के लिए कुछ सार्थक किया है।

4. दिल्ली सरकार आईबी पाठ्यचर्या खरीदने और निजी संस्थाओं को दिये गये सैकड़ों करोड़ों का चिट्ठा प्रस्तुत करे, सारे कॉन्ट्रैक्ट, नियम आदि को सार्वजनिक पटल पर रखे, ताकि इनकी जाँच हो सके और जनता सच्चाई जाने। इस भेदभावपूर्ण और शिक्षा-विरोधी योजना को वापस लिया जाये।

मुर्दा कौमें

मुर्दा कौमें रोती हैं,
अपनी उन बच्चियों के लिए,
रौंद दी गयीं जो,
औरत बनने से पहले,
और सिसकती हैं, उनके लिए भी
जिन्हें रौंद दिया गया
औरत बनने की वजह से।

वह बिलबिलाती हैं
बूढ़ी पीढ़ियों के लिए,
जो विद्रोह से डरती थीं,
और मर गयीं चुपचाप,
गुलामी का बोझ ढोते-ढोते।

-- अशोक भारती

'आप' की 'देशभक्ति की खुराक' : प्रोफेशनल 'देशभक्त' बनाने का नया एजेण्डा

-- सीमा श्रीवास्तव

आम आदमी पार्टी (आप) ने 27 सितम्बर को शहीद भगतसिंह के जन्मदिवस के अवसर पर दिल्ली के सरकारी स्कूलों में 'देशभक्ति पाठ्यक्रम' लागू किये जाने की घोषणा की। इस मौके पर दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल ने कहा कि ऐसा वातावरण तैयार करने की जरूरत है, जिसमें हम सभी और हमारे बच्चे हर कदम पर और लगातार "देशभक्ति" की भावना को महसूस करते रहें। छत्रसाल स्टेडियम में हुए इस समारोह के दौरान 'भारत माता की जय', 'वन्देमातरम' और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे भी लगाये गये। इसे देखकर ऐसा लगता है कि आप ने क्रान्तिकारियों की छवि और जनता में व्याप्त "देशभक्ति" के जुनून को भुनाने की कोशिश शुरू कर दी है।

मुख्यमंत्री का यह भी कहना था कि पिछले 74 सालों से हमने अपने स्कूलों में फिजिक्स, केमिस्ट्री और गणित तो सिखाया, लेकिन हमने बच्चों को "देशभक्ति" नहीं सिखायी। मानो, अब तक की सरकारों ने स्कूल में "देशभक्ति" का पाठ्यक्रम शामिल न करके बच्चों को "देशद्रोही" बनाया हो। उन्होंने यह भी कहा कि हमने हर तरह के पेशेवर तो तैयार किये हैं, लेकिन हमने पेशेवर देशभक्त तैयार नहीं किये। उनका कहना था कि हमें देशभक्त डॉक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों, कलाकारों, गायकों, एक्टरों और पत्रकारों आदि की जरूरत है, लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि जनता का खून चूसने वाले निजी अस्पतालों के डॉक्टर, वकील आदि देशभक्त नहीं हैं तो उन पर राजद्रोह का मुकदमा क्यों नहीं चलना चाहिए?

'आप' का यह 'देशभक्ति पाठ्यक्रम' नर्सरी से कक्षा 5, कक्षा 6 से 8 और कक्षा 9 से 12 तक के लिए तैयार किया गया है। समारोह के दौरान दिल्ली के उपमुख्यमंत्री मनीष सिसोदिया ने इस देशभक्ति पाठ्यक्रम के बारे में और खुलासा किया। उनका कहना था कि हम केवल "देशभक्ति" के बारे में ही बताने नहीं जा रहे हैं, बल्कि हमारा उद्देश्य "देशभक्ति" की बात को बार-बार दोहरा कर विद्यार्थियों के दिमाग में इस "देशभक्ति" के विचार को इस तरह गहरे बैठा देना है कि यह उनका जुनून बन जाये। आज हम देशभक्ति के नाम पर जुनून की सारी हदें पार करते हुए उन्मादी भीड़ द्वारा देश को बर्बाद किये जाते देख रहे हैं। उपमुख्यमंत्री भी कहीं वैसी ही जुनूनी भीड़ तैयार करने की बात तो नहीं कर रहे हैं? वे यहीं नहीं रुके आगे कहा कि इस पाठ्यक्रम के जरिये विद्यार्थियों को नैतिक मूल्यों का उपदेश देना हमारा उद्देश्य नहीं है और न ही यह कि विद्यार्थी ऐतिहासिक तथ्यों को याद कर लें। बल्कि हमारा उद्देश्य है कि वे अपनी खुद की "देशभक्ति" के बारे में सोचें।

देशभक्ति की खुराक देकर इस शोषणकारी व्यवस्था और जनविरोधी सरकारों का मानसिक गुलाम बनाने के लिए यह पाठ्यक्रम बचपन से लेकर जवानी तक चलाया जायेगा, जिसके कुछ नमूने इस तरह हैं। 'आप' की इस पाठ्यक्रम योजना के अनुसार नर्सरी से लेकर कक्षा 12 तक विद्यार्थियों को कम से कम 700 से 800 कहानियाँ और 500 से 600 "देशभक्ति" गीत और कविताएँ सिखायी जाएँगी। इसके तहत अब दिल्ली के स्कूलों में हरेक कक्षा की शुरुआत 5 मिनट के 'देशभक्ति ध्यान' से शुरू होगी। इसका मतलब यह हुआ कि हरेक छात्र हर रोज पाँच नये स्वतंत्रता सेनानियों को याद करेगा। इसके साथ ही नर्सरी से लेकर कक्षा 8 तक हर रोज एक 'देशभक्ति पीरियड' होगा। जबकि कक्षा 9 से 12 तक के लिए सप्ताह में दो 'देशभक्ति पीरियड' होंगे। "देशभक्ति" की इस योजना को लागू करने के लिए हर स्कूल में तीन "देशभक्ति" नोडल टीचर्स रखे जाएँगे। ये टीचर्स विद्यार्थियों की 'देशभक्ति की क्लास' लेंगे।

'आप' के इस देशभक्ति पाठ्यक्रम के चैप्टर कुछ ऐसे होंगे, जैसे 'मेरे देश के लिए प्यार और सम्मान', 'कौन है देशभक्त', "देशभक्ति", 'मेरा देश मेरा अभिमान', 'मेरा भारत महान लेकिन क्यों नहीं है विकसित?', 'मेरे सपनों का भारत' इत्यादि। इतना ही नहीं, विद्यार्थियों को एक डायरी अपने पास रखनी होगी, जिसमें वे "देशभक्ति" कक्षा के दौरान उत्पन्न अपनी भावनाओं, विचारों और

अनुभवों को लिखेंगे और आपस में उपरोक्त विषयों पर विचार-विमर्श भी करेंगे। इस बात का ध्यान रखा गया है कि स्कूल में निरन्तर दी जा रही इस 'देशभक्ति की खुराक' के बारे में बच्चे घर जाकर भूल न जाएँ, इसलिए उन्हें 'देशभक्ति होमवर्क' भी दिया जाएगा। इसके तहत बच्चों को अपने से बड़े तीन लोगों से "देशभक्ति" से सम्बन्धित सवाल पूछने होंगे, इनमें से एक बड़ा उनके घर का होगा और बाकी दो बाहर के। इसके अलावा बच्चों से इस तरह के सवाल पूछे जाएँगे कि वे देशप्रेम से ओतप्रोत होकर गौरवान्वित महसूस कर सकें, दूसरे शब्दों में कहें तो अनेक तरीकों से देश और सैनिकों का महिमामण्डन कर "देशभक्ति" की भावना उनके दिमाग में कई स्तरों पर बैठायी जाएगी। जैसे, ऐसे सवाल बच्चों से पूछे जाएँगे कि 'हमें सैनिकों के माँ-बाप का आदर सम्मान क्यों करना चाहिए?' अभी तो यह कहा गया है कि इस पाठ्यक्रम पर परीक्षाएँ नहीं होंगी, बल्कि विद्यार्थी अपना आकलन स्वयं करेंगे कि वे कितने देशभक्त हैं?

'आप' का ये 'देशभक्ति पाठ्यक्रम' आम आदमी पार्टी की यू टर्न लेती राजनीति के बारे में बहुत कुछ कह रहा है। इसे लेकर जिस सोच का इजहार मुख्यमंत्री ने किया है उसमें भगवा एजेण्डे की बू आती है। स्कूल में बच्चों को निरन्तर दी जाने वाली ये 'देशभक्ति की खुराक' पता नहीं कितने 'प्रोफेशनल देशभक्त' तैयार करेगी, लेकिन इतना तो तय है कि ये एक खास तरह के साँचे में ढले ऐसे कट्टर राष्ट्रवादी पैदा करने की योजना का हिस्सा है, जिस तरह के तथाकथित 'देशभक्त' आजकल हम देख रहे हैं। भगवा रंग में रंगे ये कट्टरपंथी झण्डे फहराने, सतही तरीके से सैनिक-सैनिक चिल्लाने को ही "देशभक्ति" समझते हैं। खुद को 'देशभक्त' साबित करने के लिए दूसरों को देशद्रोही बताने वाले ऐसे कूपमण्डूक, नफरत से भरे और हर तथ्यात्मक चीज को नकार कर चीखने-चिल्लाने वालों की एक फौज संघी एजेण्डे के तहत तैयार हो गयी है। अब लगता है कि इसी एजेण्डे को आगे बढ़ाने का काम 'आप' ने अपने हाथ में ले लिया है। दिल्ली विधानसभा चुनावों के दौरान 'हनुमान पूजा', नागरिकता संशोधन कानून के खिलाफ चले आन्दोलन से दूरी, दिल्ली में हुए दंगों के दौरान 'आप' का स्टैण्ड और अभी हाल ही में अयोध्या और यूपी के दूसरे धार्मिक शहरों में 'आप' की 'तिरंगा यात्रा' हिन्दुत्व की तरफ यू टर्न लेती इसकी राजनीति की दिशा को बयान करती है।

अब स्कूलों में बच्चों को दिये जाने वाला 'देशभक्ति की खुराक' का कार्यक्रम 'आप' के बारे में और भी कुछ कह रहा है। इसे समझने के लिए "देशभक्ति" पर रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारों को समझना जरूरी है। टैगोर, मानवता को राष्ट्रीयता से कहीं ज्यादा ऊँचे स्थान पर रखते थे। टैगोर मानते थे कि "देशभक्ति" चारदीवारी से बाहर विचारों से जुड़ने की आजादी से हमें रोकती है, साथ ही दूसरे देशों की जनता के दुख-दर्द को समझने की स्वतंत्रता को भी सीमित कर देती है। टैगोर का कहना था कि "देशभक्ति" का जुनून बेसबब परम्परावाद की ओर ले जाता है, जो किसी को भी अपने अतीत का बन्दी बना लेता है। अन्ध राष्ट्रवाद के खतरे के प्रति चेतावनी देते हुए टैगोर ने कहा था कि यह ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम धर्म के प्रति भी असहिष्णु रवैया पैदा कर देगा। आज हम ऐसा होते देख रहे हैं। विचार करने की बात है कि इस देश के करोड़ों मजदूर-किसान तमाम दुश्वारियाँ झेलते हुए दिन-रात खटकर देश के लिए उत्पादन करते हैं, अन्न उगाते हैं, जो किसी भी देश को सुचारू रूप से चलाते रहने के लिए बेहद जरूरी है। इस देश के सफाई और बिजली कर्मचारी संसाधनों के तमाम अभाव के बावजूद अपनी जान जोखिम में डालकर अपना काम करते हैं, कई बार उन्हें अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है, तो क्या ये काम वे देश के लिए नहीं करते, क्या ये देशप्रेम नहीं है? इसी तरह इस देश के करोड़ों ईमानदार नागरिक निष्ठा के साथ अपना काम करते हैं, जिनके श्रम से ये देश चलता है। देश कागज पर बना नक्शा नहीं, बल्कि यहाँ के जनगण हैं जो कंगाली-बदहाली में जीवन गुजार रहे हैं। असली देशभक्ति इस देश की बहुसंख्य मेहनतकश जनता के प्रति प्यार है, उनके दुख-दर्द को समझना और उनके अधिकारों की लड़ाई में उनका साथ देना है। फिर इस सतही 'देशभक्ति की खुराक' का नया एजेण्डा क्यों?

देश

देश
अब विदेश में महोत्सव मनाता है
सभ्यता और संस्कृति की
झाँकियाँ दिखाता है
ठुमुक-ठुमुक गाता है
और झूम-झूम जाता है

लेकिन जब वापस घर आता है
न दीप्तिमान रहता है
और न सारवान रहता है
भीतर से
बाहर से
दुखी-दुखी रहता है
टिमिक-टिमिक जलता है
और बुझा-बुझा रहता है।

-- केदारनाथ अग्रवाल

मखदूम मोहिउद्दीन : एक दहकती हुई आग

-- विजय गुप्त

मखदूम मोहिउद्दीन उर्दू अदब के अनोखे और बिल्कुल नयी रौशनी से भरे हुए सितारे हैं। उनकी निखरती हुई आभा हैरान करती है और बाहें फैलाकर अपने सौंदर्यपाश में बाँध लेती है। यह बन्धन हमें किसी दायरे में कैद नहीं करता बल्कि आजाद करता है। नये पंख देता है और उड़ने के लिए नया आकाश। एक नयी दुनिया और एक नये आदम को गढ़ने का ख्वाब और हौसला देता है।

इस जमीन-ए-मौत परवर्दा को ढाया जाएगा
इक नयी दुनिया, नया आदम बनाया जाएगा।

सिब्ते हसन साहब ने बिल्कुल ठीक कहा है कि, "तुम्हारा मुशाहदा (अवलोकन), तजुर्बा (अनुभव) और जाविए नजर (नजरिया) कभी किसी जेहनी बीमारी का शिकार नहीं हुआ, जिसका असर तुम्हारी शायरी पर पड़ता। तुम्हारा इश्क और जिन्दगी का तसव्वुर और समाजी कशाकश का शऊर सभी सेहतबख्श थे।"(1)

उनकी सेहतबख्श शायरी पढ़ने-सुनने वालों को बेखबर नहीं, बाखबर करती है। दीन-दुनिया की मुश्किलों, मुसीबतों, बदकारियों, मक्कारियों और सियासी-समाजी चालबाजियों को बेनकाब करती है। जन्नत और दोजख की हकीकत बयाँ करती है और सच्ची खूबसूरती और पाक मोहब्बत का तराना गाती है। मखदूम के तराने सात सुरों और सात रंगों में सराबोर करते हैं लेकिन हमारी चेतना को सोने नहीं देते, उसे जगाए रखते हैं। होशियार और खबरदार रखते हैं। जुल्म और वहशत के सामने घुटने टेकने नहीं देते, बल्कि आगे बढ़कर जुल्मो-सितम को जड़ से उखाड़ फेंकने की हिम्मत और ताकत देते हैं। वह प्रेम, जागरण, आन्दोलन और आह्वान के योद्धा कवि हैं। वह ललकारते हैं,

वक्त है आओ दो आलम[1] की दिगरगूँ[2] कर दें
कल्बे गेती में[3] तबाही के शरारे भर दें
(1. दो संसार 2. बदल दें 3. संसार का दिल)

मखदूम के लिए शायरी दिलबहलाव से कहीं ऊपर की चीज है। शायरी और अन्य कलाएँ उनके लिए बहेलिए का तीर है और पंछी का आर्तनाद भी। सदियों से ब्रह्माण्ड में गूँजती हुई आदि कवि की आँसू और रक्त से भीगी हुई अमर पुकार है। चट्टानों के सीनों में तराशी गयी मूर्तियाँ हैं। गुफाओं, खोहों की चित्रवलियाँ हैं। जम गयी चीखें हैं। जंजीरों की झनकार है। गुलामी का सर्द अँधेरा और आजादी का सुर्ख सवेरा है। सुख की लाली और दुःख की कालिमा है। मखदूम अपनी नज्म 'शायर' में कहते भी हैं कि,

कुछ कौसे कजह[1] से रंगत ली कुछ नूर चुराया तारों से
बिजली से तड़प को माँग लिया कुछ कैफ[2] उड़ाया बहारों से।
फिरदौसे खयाली[3] में बैठा इक बुत को तराशा करता हूँ
फिर अपनी दिल की धड़कन को पत्थर के दिल में भरता हूँ।
(1. इन्द्रधनुष 2. आनन्द 3. स्वर्ग की कल्पना)

मखदूम कविता को 'मैं' और 'हम' का कलात्मक रूपान्तरण और सभ्यता का उत्कर्ष मानते हैं। बिसात-ए-रक्स में वह लिखते भी हैं कि, "फुनून-ए-लतीफा (ललित कलाएँ) इन्फिरादी (व्यक्तिगत) और एजतमाई (सामूहिक) तहजीब-ए-नफस (सभ्यता की साँस) का बड़ा जरिया है, जो इनसान को वहशत से शराफत की बुलंदियों पर ले जाते हैं।"(2) कविता सभ्यता और संस्कृति की सर्जनात्मक और केन्द्रीय शक्ति है। कविता साँस है और जीवन का रक्षा कवच भी। वह एकवचन है और बहुवचन भी। वह एक दिल है और लाख दिल भी है। वह एक ख्वाब है और सबका ख्वाब है। मखदूम मोहिउद्दीन कविता की इसी वैश्विकता को अपनी रचना 'सबका ख्वाब' में कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं,

वो शबे मय वो शबे माहताब, मेरी ही न थी
वो तो सबका ख्वाब था
वो जो मेरा ख्वाब कहलाता था, मेरा ही न था
वो तो सबका ख्वाब था
साय-ए गेसू में बस जाने के अरमाँ दिल में थे
मेरे दिल ही में न थे
वो तो सबका ख्वाब था
लाख दिल होते थे लेकिन
जब धड़कते थे तो इक दिल की तरह
जब मचलते थे तो इक दिल की तरह
जब उछलते थे तो इक दिल की तरह
जब महक उठते तो दुनिया का महक उठता था दिल
वोल्गा का, यांगसी का, नील का, गंगा का दिल
आप में इक गर्मी-ए-एहसास होती थी

नहीं मालूम वो क्या हो गयी
चाँदनी सी मेरे दिल के पास होती थी
नहीं मालूम वो क्या हो गयी।

मखदूम को पढ़ते-गुनते हुए महान अफ्रीकी लेखक, विचारक, कवि और मुक्तियोद्धा अमिल्कर कबराल की सन् 1946 में लिखी 'कविता' शीर्षक की पंक्तियाँ याद आती हैं,

ओह कविता,
मेरी बाँह ले जाओ दुनिया को बाहों में भरने के लिए
मुझे अपनी बाँहें दो जीवन को बाहों में भरने के लिए
मैं स्वयं हूँ अपनी कविता।[3]

मखदूम अपने आप में एक मुकम्मल कविता हैं। हमारे पुरखे कवि घनानन्द ने सदियों पहले लिखा था कि,

लोग हैं लागि कवित्त बनावत
मोहि तौ मोरे कवित्त बनावत।

मखदूम मोहिउद्दीन का पूरा वजूद कविता के रसायन से बना हुआ है। इस रसायन में फूलों का अर्क है तो तेजाब भी। लोहा है तो सोना भी। क्रोध है तो करुणा भी। निर्माण है तो विध्वंस भी। वह स्वयं के बारे में लिखते हैं,

रअद[1] हूँ, बर्क[2] हूँ, बेचैन हूँ, पारा हूँ मैं
खुदपरस्तार[3], खुदआगाह खुदआरा[4] हूँ मैं।
गरदने जुल्म कटे जिससे वो आरा हूँ मैं
खिरमने-ए-जौर[5] जला दे वो शरारा[6] हूँ मैं।
मेरी फरियाद पर अहले दवल[7] अंगुश्तबगोश[8]
ला तबर[9], खून के दरिया में नहाने दे मुझे।

(1. बादल 2. बिजली 3. उपासक 4. स्वयं सजाना 5. जन्म का घर 6. चिंगारी 7. दौलत वाले 8. कान बन्द कर लेना 9. कुल्हाड़ी जैसा हथियार)

सामन्ती-पूँजीवादी तंत्र धर्म और राजनीति से नापाक गठबन्धन कर किसानों, मजदूरों, दलितों, आदिवासियों और मध्यवर्गीय गरीबों का भयानक और अमानवीय शोषण करता है। मखदूम पूँजी के इर्द-गिर्द घूमते और उन्हीं की दिन-रात चाकरी बजाते धर्माधिकारियों और सत्ताधीशों की घृणित कारगुजारियों को समझते और समझाते हैं। वह इस सच को बखूबी जानते हैं कि केवल कविता लिखना पर्याप्त नहीं है। जरूरी है कविता को जन-जन तक पहुँचाना। अपनी बाँहें फैलाना और लाखों-लाख बाहों से मिल जाना। एक पुकार का समवेत पुकार में बदल जाना। मखदूम 'बागी' नज्म में अपनी चाहत का इजहार करते हैं,

तोड़ डालूँगा मैं जंजीरे असरान-ए-कफस[1]
दहर को पंज-ए-उसरत[2] से छुड़ाने दे मुझे।
बर्क बनकर बुत-ए-माजी को गिराने दे मुझे
रस्मे कुहना को तहे खाक में मिलाने दे मुझे।
तफरके[3] मजहबो मिल्लत[4] को मिटाने दे मुझे
ख्वाबे फर्दा[5] को अब हाल बनाने दे मुझे।
आग हूँ, आग हूँ, हाँ एक दहकती हुई आग
आग हूँ, आग अब, अब आग लगाने दे मुझे।

(1. जेल के कैदियों की जंजीरें 2. जमाने को गरीबी के पंजे से 3. भेदभाव 4. धर्म)

मखदूम अपनी दिली चाहत को पूरा करने के लिए कलम के साथ बन्दूक उठा लेते हैं। वह आराम-आराइश की जिन्दगी छोड़ कर संघर्ष और बगावत के तूफानी और बारूदी रास्तों पर चल पड़ते हैं और एक सच्चे एक्टिविस्ट कवि और समर्पित वामपंथी कार्यकर्ता के रूप में चारों ओर छा जाते हैं। वह अपने कम्युनिस्ट उसूलों और ख्वाबों की तामीर के लिए 1943 में लेक्चरर की नौकरी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं वह अंग्रेजों और उनके लगुए-भगुए सामन्तों, नवाबों और जागीरदारों के खिलाफ मोर्चा खोल देते हैं। महान तेलंगाना विद्रोह के दौरान तत्कालीन हैदाराबाद रियासत के नवाब ने उनकी हत्या के लिए 5000 रुपये का ईनाम रखा था। प्रसिद्ध लेखक विष्णु प्रभाकर ने लिखा है कि,"1946 में जब तेलंगाना के किसानों ने सामन्तों के खिलाफ अपनी खुदमुख्तारी की लड़ाई शुरू की तो मखदूम उसमें किसानों के साथ पेश-पेश थे।"[4]

वह आम जनता को हर तरह के शोषण, उत्पीड़न और बेचारगी से मुक्त करना चाहते हैं। वह मेहनतकशों के खून से चमकने और पलने वाले परजीवियों की दुनिया, उनके वंशजों और महलों को भस्म कर देना चाहते हैं। खून से रंगा अतीत फासिज्म की शक्ल में सामने खड़ा था; घोर अनैतिक, भयानक प्रदूषित और इनसान को हत्यारी भीड़ में बदलता हुआ। मखदूम अपनी कविता से आदमी को शैतान बनने से रोक रहे थे और अपनी पूरी ताकत से तहजीब और इनसानियत को बचा रहे थे। यही काम महान मनोवैज्ञानिक कार्ल जी युंग भी कर रहे थे। युंग लिखते हैं कि, "तहजीब ही हमारा अकेला हथियार है, जिसके दम पर हम भारी भीड़ के जमावड़े की वजह से पैदा होने वाले खौफनाक खतरे का मुकाबला कर सकते हैं।"[5] सिर पर खड़े खतरे को मखदूम महसूस करते हैं और ऊँचे स्वरों में पुकारते हैं,

दौर-ए-नाशाद[1] को अब शाद[2] किया जाएगा
रूह-ए-इनसान को आजाद किया जाएगा।
नाला-ए-बेअश्र[3] अल्लाह के बन्दों के लिए
सिल-ए[4] दार ओ रसन[5] हक के रसूलों के लिए
कस्रे[6] शद्दाद[7] के दर बन्द हैं भूखों के लिए।
फूँक दे कस्र को गरकुन का तमाशा है यही[8]
जिन्दगी छीन लो दुनिया से जो दुनिया है यही।
जलजलों आओ दहकते हुए लावो आओ
बिजलियों आओ गरजदार घटाओं आओ
आँधियों आओ जहन्नुम की हवाओं आओ।
आओ ये कुर्र-ए-नापाक[9] भसम कर डालें

कास-ए-दहर[10] को मामूरे करमकर[11] डालें।

(1. अप्रसन्न 2. प्रसन्न 3. प्रभावहीन आर्तनाद 4. उपहार स्वरूप 5. फाँसी 6. महल 7. अत्याचारी राजा 8. अगर भगवान ने दुनिया ही इसीलिए बनायी है 9. अपवित्र सृष्टि 10. संसार रूपी प्याला 11. दया और कृपा से परिपूर्ण)

मखदूम रौशनाई और बारूद के अद्‌भुत मिश्रण के महाकवि हैं। वह प्रेम, त्याग और इन्कलाब का ध्रुवतारा हैं। उनका प्रेम इन्कलाब की तलवार से अज्ञान और शोषण की बेड़ियाँ काटता है और आजादी के नगमे गाता है। कॉमरेड एस ए डाँगे उनकी खुसूसियात इस तरह बयाँ करते हैं, "मखदूम शायरे इन्कलाब है, मगर वह रूमानी शायरी से भी दामन नहीं बचाता, बल्कि उसने जिन्दगी की इन दोनों हकीकतों को इस तरह जमा कर दिया है कि इनसानियत के लिए मोहब्बत को इन्कलाब के मोर्चों पर डट जाने का हौसला मिलता है।"[6]

मखदूम मोहिउद्‌दीन की जिन्दगी और शायरी की मंजिल है इनसानी शऊर में इजाफा और हर तरह की गुलामी के खिलाफ लड़ने और कुर्बान होने का जज्बा। उन्होंने किसानों और मजदूरों को दिन-रात दूसरों के मुनाफे के लिए खटते-मरते देखा था। उन्होंने संसार के लाजवाब शिल्पियों को भूख और गम से निढाल होते देखा था। रचनात्मकता और कलात्मकता से लबरेज रचने-गढ़ने वाली उत्पादक ताकतों को अमानवीय परिस्थितियों में जानवरों की तरह जीते-मरते देखा था। उन्होंने आवारा पूँजी और फासिस्ट सत्ता के शर्मनाक गठबन्धन और दमनात्मक कार्रवाईयों को देखा था। उनके लिए देश-दुनिया से अलग-थलग और बेपरवाह रहना असम्भव था। उन्होंने सक्रिय प्रतिरोध का रास्ता अपनाया और अभिव्यक्ति की आजादी और सच्ची लोकशाही का सपना देखा। अपनी नज्म 'चाँद तारों का बन' में वह देश के अतीत और भविष्य का नक्शा खींचते है,

कुछ इमामाने[1] सद् मकरोधन[2]
उनकी साँसों में अफई[3] की फुन्कार थी
उनके सीने में नफरत का काला धुआँ
इक कमींगाह[4] से
फेंक कर अपनी नोकेजुबाँ
खूने नूरे सहर[5] पी गये
रात की तलछटें हैं अँधेरा भी है
सुबह का कुछ उजाला, उजाला भी है
हमदमो
हाथ में हाथ दो
सूए[6] मंजिल चलो
मंजिलें प्यार की
मंजिलें दार[7] की
कूए दिलदार[8] की मंजिलें
दोश[9] पर अपनी अपनी सलीबें उठाए चलो।

(1. नेता 2. सैकड़ों छल-कपट 3. सर्प 4. छुपने की जगह 5. सुबह के प्रकाश के खून की 6. मंजिल की ओर 7. फाँसी की मंजिल 8. प्रेमिका की गली 9. कन्धों पर)।

मखदूम सुबह के उजाले को डसने वाले छुपे हुए साँपों को सामने लाते हैं। हमदमों को सुबहे-नूर की मंजिल दिखाते हैं। सभी मुश्किलों का सामना करते हुए, दिलो-जाँ को दाँव पर लगाते हुए उसकी ओर बढ़ने और हर कीमत पर हासिल करने को प्रेरित करते हैं; और कमाल कि, दिलदार की मंजिल भी याद रखते हैं। यानी न खुद को भूलते हैं और ना ही समाज को। उनकी निजता सार्वजनिकता से मिलकर जीवन और कविता को उच्चतर मंजिल की ओर ले जाती है। जीवन और काव्य को एक नया आयाम देती है। सिब्ते हसन बजा फरमाते हैं कि, "तुम्हारे फन्नी शऊर में हर जगह समाजी शऊर की रूह जरूर तड़पती आती है।"[7]

यह शऊर और रूहानी तड़प बहुत मुश्किल से कभी-कभार, भीषण आत्म संघर्ष और अपने को लहूलुहान करने के बाद ही एकाध कवि को नसीब होती है। मखदूम मोहिउद्‌दीन उर्दू अदब के ऐसे ही दुर्लभ कवि हैं। उनकी कविता में जो लाल-ओ-गुहर हमें मिलते हैं, जो गहराई, चमक और तड़प मिलती है उसका रहस्य उनकी रचना प्रक्रिया में है। रचना प्रक्रिया की एक झलक हम उनकी मशहूर नज्म 'स्तालिन', (बुजुर्ग तातारी शायर जम्बूल जाबर की नज्म का मुक्त अनुवाद) की निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं,

जू[1]-ए-पुरजोश बनो, बर्क का सैलाब बनो और बहो
इक दहकते हुए पिघले हुए लोहे का समन्दर बनकर
गजबआलूद[2] भँवर बन जाओ

(1. दरिया 2. गजब ढाने वाली)।

रचना कर्म दोतरफा और मुसलसल लड़ाई है। एक बाहर से और दूसरी भीतर से। इस लड़ाई के लिए मखदूम बहुत तैयारी की बात करते हैं। और तैयारी भी कैसी? उफनते दरिया में बेखौफ तैरने, बिजली का सैलाब बनने और पिघले हुए लोहे के समन्दर में जबर्दस्त भँवर पैदा करने जैसी। मखदूम 'बिसात-ए-रक्स' में लिखते भी हैं कि "शायर अपने दिल में छुपी हुई रौशनी और तारीकी (अँधेरे) की आवेजिश (गुत्थमगुत्था) को और रूहानी (आत्मा की) करब (बेचैनी) और इज्तराब (व्याकुलता) की अलामतों (निशानियों) को उजागर करता और शेर में ढालता है। रूहानी करब और इज्तराब की भट्‌टी में तपता है, शेर की तखलीक करता है।"[8] आग और बिजली के सैलाब से गुजरकर ही शायर कुन्दन हो सकता है। जिसमें ऐसा करने की कूव्वत हो वही अदब के मैदान में सीना तान कर उतरे और जोर-जबर और जुल्म की सल्तनत को तबाह-ओ-बरबाद कर दे। इसी नज्म का आखिरी बन्द है,

अपनी ताकत को समेटे हुए उठ

खैज[1] बासद हश्म[2] व जाह[3]-ओ-जलाल[4]
बहजाराँ जबरुत[5]
एक जान एक जसद[6]
फूँक दे दुश्मने नापाक की खाकिस्तर[7] को।

(1. मौज-तरंग 2. सैकड़ों आँखें 3. प्रतिष्ठा 4. तेजस्विता 5. हजारों श्रेष्ठताएँ 6. शरीर 7. राख)।

मखदूम मोहिउद्दीन अपनी कविता से जनता को जागरूक बनाने और यथास्थिति को बदलने के लिए लामबन्द करते हैं। वह साहित्य को राजनीति से अलग नहीं करते बल्कि सक्रिय हस्तक्षेप करते हुए अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। उनकी लगातार सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता उन्हें दूसरे रचनाकारों से बिल्कुल अलग-थलग करती है। उनकी सजगता, दूरदर्शिता, आम जनता से गहरा लगाव और धर्मनिरपेक्ष समरस समाज की स्थापना की हरचन्द कोशिश केन सारो वीवा की याद दिलाती है। महान नाइजीरियन कवि और मुक्तियोद्धा केन सारो वीवा भी मानते थे कि, "यूरोप के लेखकों के विपरीत अफ्रीका के लेखकों को केवल मनोरंजन के लिए नहीं लिखना चाहिए। अगर वे अपने लेखन के जरिये जनता को उद्वेलित कर सकते हैं तो अपनी इस क्षमता को उन्हें सामाजिक बदलाव की शक्तियों को गोलबन्द करने में लगाना चाहिए।"[9]

मखदूम मोहिउद्दीन ने यही किया। वह ताजिन्दगी मातृभूमि, जनता और साहित्य की सेवा करते रहे। किसानों, मजदूरों के हक में अपनी आवाज बुलन्द करते रहे। उन्हें गोलबन्द करते रहे। कविता को सजे-संवरे भव्य मंचों, कुलीन गोष्ठियों और बन्द कमरों से निकालकर खुली सड़क पर ले आये। खेत-खलिहान, खदान-फैक्ट्रियों तक ले आये और धूल, धुएँ, पसीने और रक्त से उसका अभिषेक किया। उन्होंने प्रताड़ना झेली, कष्ट उठाए, जेल गये लेकिन अपने लक्ष्य से कभी पीछे नहीं हटे। उन्होंने पहले और दूसरे विश्वयुद्ध का खूनखराबा, बरबादी और भयानक जुल्मो-सितम देखा था। अंग्रेजों की नफरत और हिन्दुस्तानियों की तकलीफ और आजादी की लड़ाई में उनका हौसला, कुर्बानी और मौत का ताण्डव देखा था। 'जंग' शीर्षक नज्म में उन्होंने जंग में धरती और इनसान की तबाही के साये में रहमत बरसाने वाले नेकी के खुदा क्रान्ति-सूर्य के प्रकट होने की कामना की है;

इनसानियत के खून की अरजानिया[1] तो देख
उस आसमान वाले की बेदारियाँ[2] तो देख।
मासूमि-ए-हयात[3] की बेचारगी तो देख
दस्ते हवस से हुस्न की गारतगिरी[4] को देख।
खुद अपनी जिन्दगी पे पशेमाँ[5] है जिन्दगी
कुर्बान गाहे मौत[6] पे रक्साँ है जिन्दगी।
इनसान रह सके कोई ऐसा जहाँ भी है
इस फितना जा[7] जमीं का कोई पासबाँ भी है।
ओ आफताबे रहमते दौराँ[8] तुलू[9] हो
ओ अन्जुमे[10] हम्मीयते[11] यजदाँ[12] तुलू हो।

(1. गिरावट 2. जाग्रत अवस्था के कर्म 3. जीवन 4. बरबादी 5. लज्जित 6. मृत्यु की बलिवेदी पर 7. उपद्रवी 8. युग के कृपालु सूर्य 9. उदय 10. सितारे 11. स्वाभिमानी 12. नेकी का खुदा)।

रहमत का सूर्य और गर्वीले सितारों का उदय यूँ ही नहीं होगा। आसमान की कालिख को मिटाना होगा और एक नया उज्ज्वल आसमान बनाना होगा। कालिख को मिटाने और शुभ्र वातावरण बनाने का काम कविता करती है। कविता पूर्ण रूप से सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक जिम्मेदारियों से भरा हुआ सांस्कृतिक कर्म है और जन प्रतिरोध का सार्थक मंच भी। इतिहास साक्षी है कि मुक्ति आन्दोलन और हर प्रकार की गुलामी से आजाद होने की लड़ाई भी सांस्कृतिक कर्म है। मखदूम मोहिउद्दीन उर्दू अदब के शानदार सांस्कृतिक योद्धा हैं। उन्होंने कलम, बन्दूक और सार्वजनिक मंचों का उपयोग सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के खात्मे के लिए किया। उनका पूरा शाहकार जन-आन्दोलनों के प्रति उनके प्रेम और प्रतिबद्धता का अनुकरणीय उदाहरण है। आज भी मंचों पर जब उनकी नज्म 'जंगे आजादी' गायी जाती है तो पूरा माहौल जोश-ए-जुनून से भर जाता है;

लो सुर्ख सवेरा आता है आजादी का आजादी का
गुलनार तराना गाता है आजादी का आजादी का
देखो परचम लहराता है आजादी का आजादी का।
ये जंग है जंगे आजादी
आजादी के परचम के तले।

गुलाम हिन्दुस्तान में मखदूम का यह तराना आजादी के दीवानों का सिगनेचर ट्यून बन गया। जलसों की शुरुआत और समापन इसी तराने से होने लगी। जब समूह स्वरों में यह नज्म गायी जाती है तो गीत और संगीत का अनोखा जादू अपनी गिरफ्त में ले लेता है। रौशनी की तलवार अँधेरे को काटती चलती है और सुर्ख सवेरा हमें उम्मीद और जीवन-संगीत से भर देता है। मखदूम का व्यक्तित्व और कृतित्व शब्द और सुर की जादुई जुगलबन्दी और जीवन्त अभिव्यक्ति है। शब्दों का उतार-चढ़ाव और सुरों की ऊँचाई और गहराई हमारी ठहरी हुई सोच और निष्क्रिय मानसिकता पर बिजली की तरह गिरती है और हमें हर बन्धन और अवरोध तोड़ने को विवश कर देती है। मखदूम को पढ़ते-सुनते हुए हमारी पूरी केमिस्ट्री बदल जाती है और हम जैसे पहले थे, वैसे नहीं रह जाते। शब्द हथियार में बदल जाते हैं और संगीत जलती हुई मशाल में। मखदूम के 'इकबाल' नज्म में जलती हुई मशाल और शब्दों की चमचमाती धार देखिए,

इस अँधेरे में ये कौन आतिशनवा[1] गाने लगा
जानिबे मशरिक उजाला-सा नजर आने लगा।
मौत की परछाइयाँ छँटने लगीं छटने लगीं

जुल्मतों[2] की चादरें हटने लगीं हटने लगीं।
इक शरारा उड़ते उड़ते आसमानों तक गया
आसमाँ के नूर पैकर[3] नौजवानों तक गया।
आलमे बाला[4] पे बाहम मशवरे होने लगे
आसमानों पर जमीं के तजकिरे[5] होने लगे।
फिर अँधेरे में वही आतिशनवा पाया गया
जिन्दगी के मोड़ पर गाता हुआ पाया गया।

(1. अग्निमय 2. अंधकार 3. ज्योतिमय शरीर 4. ऊपरी दुनिया 5. चर्चे)

मखदूम मोहिउद्दीन सच्चे आशिक और आतिशनवा हैं। वह आग का गीत गाते हैं और ओस में भीगते हुए चाँदनी का गीत भी गाते हैं। वह फूल की खूबसूरती और काँटे की चुभन के कायल हैं। हुस्न उन्हें रचनात्मक बनाता है और इश्क हौसलामन्द। मोहब्बत के जज्बे ने उन्हें क्रान्ति का सबक पढ़ाया था, और क्रान्ति ने उन्हें धरती, कुदरत और इनसान से टूट कर मोहब्बत करना सिखाया था। 'चारागर' नज्म कुदरत के साये में दो देह और दो रूह के एकमेक हो जाने की अद्भुत बयानी है। नज्म के आखिरी दो बन्द देखिए और सृष्टि की इकाई स्त्री और पुरुष की, आदम और हौव्वा की आदिकाल से चली आ रही कालजयी प्रेम भावना और सर्जना की कीमियागिरी को अन्तरतम से महसूस कीजिए;

हमने देखा उन्हें
दिन में और रात में
नूरो जुल्मात में
मस्जिदों के मीनारों ने देखा उन्हें
मन्दिरों के किवाड़ों ने देखा उन्हें
मैकदे की दराड़ों ने देखा उन्हें
अज अजल ता अदब[1]
ये बता चारागर
तेरी जन्बील[2] में
नुस्ख-ए कीमिया-ए मोहब्बत[3] भी है
कुछ इलाज-ओ मदावा-ए उल्फत भी है?
इक चम्बेली के मँडवे तले
मयकदे से जरा दूर उस मोड़ पर
दो बदन प्यार की आग में जल गये।

(1. दुनिया के पहले दिन से दुनिया के अन्तिम दिन तक 2. थैले में 3. प्रेम के उपचार का नुस्खा)

मखदूम की प्रेमावेग से भरी मुश्किल नज्म को संगीत में बाँधना असम्भव-सा दिखता है, लेकिन इसे सम्भव किया उनके जिगरी दोस्त और मशहूर संगीतज्ञ इकबाल कुरैशी साहब ने। इकबाल कुरैशी बहुत संजीदा और काबिल संगीतकार रहे हैं। उन्होंने लोक और शास्त्रीय संगीत के मेल से अद्भुत और बेहद कर्णप्रिय धुनों की सर्जना की है। 'चारागर' उनकी बहुत लोकप्रिय और अमर संगीत रचना है। फिल्म अभिनेता चन्द्रशेखर ने अपनी फिल्म 'चा चा चा' में इस नज्म का कलात्मक इस्तेमाल किया है। परदे पर चन्द्रशेखर और अपने जमाने की बेजोड़ नृत्यांगना हेलन हैं। हेलन के मनमोहक नृत्य और भाव-भंगिमा ने नज्म को अप्रतिम ऊँचाई तक पहुँचा दिया है। मोहम्मद रफी और आशा भोसले की जादुई आवाज आत्मा में उतरती चली जाती है और आप ताजा खिले हुए फूल की ताजगी और खुशबू से भर उठते हैं। मंदिर, मस्जिद और मयकदे के साथ घर-आँगन भी खुशबू से तर हो जाते हैं। प्रेम का कायान्तरण हो जाता है, सामाजीकरण हो जाता है। 'मैं' और 'तुम' एक दूसरे में घुल-मिल कर 'हम' में बदल जाते हैं। मखदूम 'हम' के नामवर नगमानिगार हैं। वह हर कीमत पर 'हम' को, सामूहिकता को, जीवन और प्रेम को बचाना चाहते हैं। वह चारागर से पूछते भी हैं कि वैद्यराज क्या तुम्हारे थैले में जिन्दगी को सोना बनाने वाले प्यार की कीमियागिरी का कोई नुस्खा भी है? और क्या प्यार के मारों का कोई इलाज भी है? प्यार को हर्फे वफा और खुदा मानने वाले मखदूम इस बात से अनजान नहीं हैं कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी निजाम के लिए औरत एक जिन्स और सिक्कों का खनकता हुआ बाजार है जबकि प्यार जिस्मानी जरूरत और एक बायोलॉजिकल फेनामेना के सिवा और कुछ नहीं है। उनका खुदा, उनका ईमान सिर्फ मुद्रा और मुनाफा है।

मुद्रा और मुनाफे की क्रूर रीति-नीति और उसके हासिल पर 'वादि-ए फर्दा' (आने वाले कल की घाटी) नज्म में मखदूम लिखते हैं,

झाड़ियाँ दर्द की
दुःख के जंगल
नदियाँ
जिनमें बहा करते हैं दिल के नासूर
कोह-ए गम
नाग की मानिन्द
सियह फन खोले
हर गुजरगाह को खा जाते हैं
रात ही रात है, सन्नाटा ही सन्नाटा है।

मखदूम मोहिउद्दीन ने जानलेवा खौफनाक सन्नाटे को, पहाड़ जैसे दुःख और जिन्दगी को दिन-रात नरक और जहरीला बनाते पूँजी के काले नागों को तेलंगाना विद्रोह के दौरान देखा था। झेला था और डटकर इन हैवानों का सामना किया था। उनके फनों को कुचला था। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में महान तेलंगाना विद्रोह सन् 1946 के सितम्बर माह में शुरू होता है और अक्टूबर, 1951 तक चलता है। किसानों-मजूरों के साथ आम लोग और बुद्धिजीवी भी इस आन्दोलन में शामिल थे। प्रारंभ में आन्दोलन का स्वरूप हड़ताल, जुलूस और धरने तक सीमित था। एक हद तक प्रतिरक्षात्मक था। आँध्र प्रदेश की जुझारू जनता ने अपने संयम को

बरकरार रखते हुए तीन हजार गाँवों की ग्राम पंचायतों में ग्राम-राज कायम कर लिया था और निजाम और उसके खोरपोशदारों को मुँह की खानी पड़ी और मुँह छुपा कर भागना पड़ा था।

संघर्षशील जनता की इन उपलब्धियों के बावजूद अंग्रेज सरकार और उसके पिट्ठुओं के जुल्म बढ़ते चले गये। आजादी के बाद भी जुल्म कम नहीं हुए, बल्कि भयानक और असहनीय होते चले गये।

11, सितम्बर, 1947 को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में रवि नारायण रेड्डी, बी भल्ला रेड्डी और मखदूम मोहिउद्दीन ने हथियारबन्द मुक्ति संघर्ष का ऐलान किया। इतिहास का यह अप्रिय और क्रूर सच है कि तेलंगाना के ऐतिहासिक किसान संघर्ष को कुचलने का काम न केवल अंग्रेज सरकार और उसके टुकड़खोर सामन्तों, जागीरदारों, राजे-रजवाड़ों और नवाबों ने किया था बल्कि हिन्दुस्तान की आजाद सरकार ने भी किया था। कम्युनिस्ट नेता पी सुन्दरैया लिखते हैं कि, "चार हजार कम्युनिस्ट और किसान लड़ाकू मारे गये, दस हजार से भी अधिक कम्युनिस्ट और अन्य लोग तीन से चार साल तक के लिए बन्दीगृह में डाल दिये गये। पचास हजार से अधिक लोग समय-समय पर पकड़कर सैनिक शिविर में लाए गये और पीटे गये, उन्हें यातना दी गयी। यह क्रम हफ्तों, महीनों तक चलता रहता। हजारों गाँवों में लाखों लोगों के यहाँ पुलिस और सेना ने छापामारी की, लोगों को लाठियों से पीटा, उनकी करोड़ों की संपत्ति को लूटा या नष्ट कर दिया। हजारों महिलाओं को बेइज्जत किया गया।"[10]

मखदूम ने तेलंगाना के मुक्ति युद्ध को अपनी नज्म 'तेलंगाना' में अजर-अमर कर दिया है। नज्म 'तेलंगाना' शहीदों के इस्तकबाल से शुरू होती है,

दयारे हिन्द का वो राहबर[1] तेलंगाना
बना रहा है नयी इक सहर तेलंगाना
बुला रहा है बसिम्ते-दिगर[2] तेलंगाना
वो इन्कलाब का पैगम्बर तेलंगाना।
(1. नेता 2. दूसरी दिशा में)

नज्म अन्तरा दर अन्तरा मुक्तियोद्धाओं की बेमिसाल बहादुरी का लाजवाब चित्रण करते हुए बढ़ती है,

उठे हैं तेग बकफ[3] यूँ बसद हजार जलाल[4]
वो कोह वो दश्त के फरजन्द[5] खेतियों के लाल
चमक रही है दरान्ती उछल रहे हैं कुदाल
बिनाए कस्रे इमारत शिकिस्ताँ-व-पामाल[6]।
लरज-लरज के गिरे सकफ-ओ बाम-ए जरदारी[7]
है पाश-पाश निजाम-ए हलाकू व जारी[8]
पड़ी है फर्क-ए-मुबारक[9] पे जरबतेकारी[10]
हुजूरे आसिफे साबे[11] पे है गशी तारी।
(3. हाथ में तलवार लिए हुए 4. प्रताप, तेज 5. पुत्र 6. टूट कर गिरी हुई 7. धन रूपी छत और दीवारें 8. जालिम बादशाह और जार 9. बादशाह के माथे पर 10. गहरी चोटें 11. आसिफजाही खानदान के सातवें बादशाह)

और आखिर में शायर बड़े गर्व और श्रद्धा के साथ शहीदों के सम्मान में सिर झुका कर अपना सलाम पेश करता है,

सलाम सुर्ख शहीदों की सरजमीन सलाम
सलाम अज्म-ए-बुलन्द[1] आहनी यकीन सलाम।
मुजाहिदों की चमकती हुई जबीन[2] सलाम
दयारे हिन्द की महबूब अर्ज चीन[3] सलाम।
(1. दृढ़ संकल्प 2. मस्तक 3. धरती)

पराधीन भारत में किसानों का खून बहता था। जमीन, खेती-किसानी और खून-पसीने की कमाई कौड़ियों के मोल बिकती थी। धरती के लाल हर पल सेठ-साहूकारों, दलालों, रसूखदारों, सरमायादारों और सरकार बहादुर के हाथों लुटते थे, लूटे जाते थे। जमीन हाथ से निकलती जाती थी और साँसें देह से। स्वाधीन भारत में भी किसानों-मजूरों का हाल बेहाल है। भाजपा सरकार ने तीन कृषि कानूनों को संसद में पास कर साबित कर दिया है कि वह जनता-जनार्दन की सरकार नहीं है। भले ही वह जनता-जनता का जाप दिन-रात करे लेकिन अपनी करनी से उसने साबित कर दिया है कि वह कॉरपोरेट पूँजीपतियों की सरकार है। पिछले ग्यारह महीनों से किसान सिंघु बॉर्डर पर सड़कों पर मोर्चा खोले हुए हैं। गर्मी, बरसात और ठंड की मार झेल रहे हैं। पुलिसिया ज्यादतियों और किसान-मित्र का मुखौटा पहने सरकार की तानाशाही का सामना कर रहे हैं, फिर भी डटे हुए हैं। उनकी माँग है कि तत्काल तीनों कृषि कानूनों को रद्द किया जाये।

आन्दोलन के दौरान सैकड़ों किसान शहीद हो चुके हैं। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के लखीमपुर में भाजपा साँसद के बेटे ने अपनी गाड़ी से आन्दोलनरत चार किसानों और एक पत्रकार को कुचलकर मार डाला लेकिन किसानों को अन्नदाता कहने वाली सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। उल्टे किसानों को ही मुजरिम साबित करने की शर्मनाक कोशिशें होने लगीं। कल भी किसान अपने हक और स्वाभिमान की लड़ाई लड़ रहे थे। आज भी किसान लड़ रहे हैं। इस लड़ाई में जनता का प्रगतिशील तबका किसानों के साथ खड़ा है लेकिन एक तबका भ्रम को यथार्थ और झूठ को सच मानता हुआ असमंजस में पड़ा गुमसुम और चुप-चुप है। मखदूम अपनी नज्म 'चुप न रहो', (जो उन्होंने कांगो के पहले प्रधानमंत्री और राष्ट्रवादी नेता पेट्रिस लुमुम्बा के कत्ल पर लिखी थी) में खबरदार करते हैं कि,

जब तलक दहर में कातिल का निशाँ बाकी है
तुम मिटाते ही चले जाओ निशाँ कातिल के
रोज हो जश्ने शहीदाने वफा चुप न रहो
बार-बार आती है मकतल[1] से सदा चुप न रहो, चुप न रहो।

(1. वध-स्थल)

मखदूम मोहिउद्दीन ताजिन्दगी किसानों और श्रमजीवियों के अधिकार और सम्मान की लड़ाई लड़ते रहे। जमीन किसानों की हो और फसल पर हक किसानों का हो। मेहनतकशों की इज्जत हो और एक नयी दुनिया बने जिसकी बागडोर जनता के हाथ में हो। नज्म 'जहाने नौ' इसी ख्वाब को पाने की तदबीर और ताबीर है;

नगमे शरर फिशाँ[1] हूँ उठा आतिशी रबाब[2]
मिजराब[3]-ए-बेखूदी से बजा साजे इन्किलाब
मैमारे अहदे नौ[4] हो तेरा दस्ते-पुरशबाब[5]
बातिल[6] की गरदनों पे चमक जुल्फकार[7] बन।
ऐसा जहान जिसका अछूता निजाम[8] हो
ऐसा जहान जिसका अखूव्वत[9] पयाम[10] हो
ऐसा जहान जिसकी नयी सुबहो शाम हो
ऐसे जहाने नौ का तू परवरदिगार[11] बन।

(1. चिन्गारियाँ बिखेरने वाला 2. अग्निमय रबाब (एक साज) 3. रबाब बजाने का उपकरण जो उंगली में पहना जाता है 4. नवयुग का निर्माण 5. सौन्दर्य से भरपूर हाथ 6. झूठ 7. हजरत अली की तलवार जो बद्र के युद्ध में उन्हें रसूल ने प्रदान की थी 8. प्रबन्ध, व्यवस्था 9. प्यार 10. समाचार 11. ईश्वर)

उर्दू के महान साहित्यकार मुज्तबा हुसैन सोलह आने सच कहते हैं कि, "हम हैदराबादियों के लिए मखदूम सिर्फ शाइर और दानिश्वर नहीं थे, बल्कि बहुत कुछ थे।"[(11)] इस 'बहुत कुछ की जब तहें खुलती हैं तो मखदूम मोहिउद्दीन का बहुस्तरीय व्यक्तित्व सामने आता है। वह बूँद में समुद्र थे। वह एक साथ शायर, संगठनकर्ता, उर्दू में रोमेन्टिक रिवोल्यूशनरी धारा के प्रवर्तक, अनुवादक, कम्युनिस्ट पार्टी, किसान सभा और ट्रेड यूनियन के अग्रणी कार्यकर्ता और नेता रहे हैं। सड़क की लड़ाई को वह एसेम्बली तक ले गये। वह आन्ध्र प्रदेश में कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक रहे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर पर एक महत्वपूर्ण किताब लिखी है। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ के नाटक 'विडोवर्स हाउस' का 'होश के नाखून' उन्वान से उर्दू में अनुवाद किया है। साहित्य को जनता तक पहुँचाने के लिए उन्होंने हर माध्यम का सार्थक उपयोग किया है। कवि सम्मेलनों और गोष्ठियों के साथ उन्होंने सार्वजनिक सभाओं और विधान सभा का इस्तेमाल जन-जागरण के लिए बखूबी किया है। उर्दू के मशहूर आलोचक प्रोफेसर सैयद एहतेशाम हुसैन का कहना है कि, "मखदूम की रचनाएँ बड़ी चेतनापूर्ण, मनोहर और शक्तिशाली होती हैं। उनकी कला और क्रान्तिवादी दृष्टि में ऐसा सामंजस्य मिलता है कि उनकी चेतना की शक्ति रचनाओं में प्रस्तुत हो जाती है। 'फैज' की तरह ही 'मखदूम' प्रतीकों और बिम्बों से काम लेते हैं और सामाजिक चेतना के भीतर अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करते रहते हैं।"[(12)]

'मैं' शीर्षक नज्म में उनका अन्दाजे बयाँ देखिए,

खुद तराशीदा[1] बुते नाज आफ्रीं[2] मेरा वजूद
मेरी जाते पाक मस्जूदे[3] जहाने हस्त ओ बूद[4]
दूसरा कोई नहीं रहता जहाँ रहता हूँ मैं
अपने सैलाबे खुदी में आप ही बहता हूँ मैं।

(1. स्वयं का गढ़ा हुआ 2. सृजनकर्ता पर गर्व करने वाला 3. सृजनकर्ता 4. है और था)

मखदूम को स्वयं तराशे हुए रचनात्मक व्यक्तित्व पर अभिमान है। वह अपने अस्तित्व को सृजनकर्ता की तरह पवित्र और गतिमान मानते हैं, जो कल भी था, आज भी है अपने सृजन के सैलाब में अविराम बहता हुआ, रचता हुआ, तराशता हुआ। रचाव के संसार में रचनाकार के सिवा कोई दूसरा नहीं रहता। रह भी नहीं सकता। कबीर कहते हैं कि,

प्रेम गली अति साँकरी, जा में दो न समाय।

मखदूम की शब्द-साधना में भी हुस्न और इश्क एकाकार होते हैं जबकि दिन और रात गुजरते जाते हैं। कहीं कोई द्वैत नहीं। दो बदन और एक जान की तरह प्रेम पूर्ण होता है और कविता अपने उत्कर्ष को छूने लगती है। 'मोहब्बत की छाँव' नज्म की दिल छू लेने वाली पंक्तियाँ देखिए,

रात और दिन यूँ ही आते-जाते रहे
हुस्न और इश्क तकमील[1] पाते रहे। (1. पूर्णता)

मखदूम के इसी अन्दाजे-बयाँ और मोहब्बत से भरे हुए ख्वाब और बगावती शाइरी पर जान छिड़कता था हैदराबाद और बाकी संसार। उनके दीवानों का हाल मुज्तबा हुसैन कुछ यूँ बयाँ करते हैं, "मखदूम से अकीदत का यह आलम था कि मेरे एक दोस्त मखदूम के मज्मुआए-कलाम 'सुर्ख सवेरा' को रिहल पर रखकर न सिर्फ पढ़ा करते थे बल्कि मुतालआ (अध्ययन) के दौरान आगे और पीछे डोलते भी थे! है कोई शाइर जिसका कलाम इस तरह पढ़ा गया हो?"[(13)]

मखदूम के चाहने वालों में उस जमाने की नामचीन हस्तियों के साथ बागी तेवर से लैस, दुनिया को बदलने का जज्बा रखने वाले नयी नस्ल के जवाँ भी थे। फैज, मजाज, सज्जाद जहीर, मुज्तबा हुसैन, अली सरदार जाफरी, कृश्न चन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, सिब्ते हसन, कमर रईस, एम एफ हुसैन, डॉ. राज बहादुर गौड़-- कहाँ तक नामोल्लेख किया जाये, उनके परस्तार हैदराबाद से लेकर पूरे हिन्दुस्तान और अन्य मुल्कों में फैले हुए थे। "डॉक्टर राजबहादुर गौड़ ने तो अपने घर का नाम 'चंबेली का मँडवा' रख छोड़ा था जो मखदूम की एक मशहूर नज्म का उन्वान है। लोग अपने घरों का नाम रखते हैं, डॉ. गौड़ ने अपने घर का उन्वान रखा था। अब भी उनके घर में 'चंबेली का मँडवा' कम और मखदूम की नज्म ज्यादा नजर आती है।"[(14)] सज्जाद जहीर तो उन्हें तरंग और उछाह से भरा हुआ शब्द और सुर का जादूगर मानते थे। वह अपनी

अनोखी कृति 'रौशनाई' में लिखते हैं कि, "मखदूम एक शाइर होने के साथ-साथ एक स्वर-साधक संगीतकार भी हैं।"[15] ख्वाजा अहमद अब्बास का मानना था कि, "वे क्रान्तिकारी छापामार की बन्दूक थे और संगीतकार का सितार भी। वे बारूद की गन्ध थे और चमेली की महक भी।"

कृश्न चन्दर तो उनके शैदाई थे। उन्होंने मखदूम के जीवन और संघर्ष पर 'जब खेत जागे' नामक उपन्यास लिखा। इसी उपन्यास पर तेलगू में गौतम घोष ने 'माँ भूमि' नाम से फिल्म बनायी। हैदराबाद के प्रसिद्ध कवि-पत्रकार और मखदूम मोहिउद्दीन के बेटे नुसरत मोहिउद्दीन के जिगरी दोस्त कॉमरेड स्वाधीन अपनी आत्मकथा 'महादृश्य में अकेले' में लिखते हैं कि, "हुसैन जब हैदराबाद में थे तो उन्होंने मखदूम मोहिउद्दीन के शेरों पर आधारित चित्र बनाये थे। पेंटिंग्स की प्रदर्शनी की थी।"[16] मखदूम मोहिउद्दीन ने कला और साहित्य की बड़ी हस्तियों को ही प्रभावित और प्रेरित नहीं किया बल्कि नौजवानों के भी वह आदर्श रहे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि वेणुगोपाल ने नुसरत मोहिउद्दीन से एक बार कहा था कि, "आपके पिता मखदूम से प्रभावित होकर ही हम लेखन के क्षेत्र में आये।"[17]

मखदूम मोहिउद्दीन को चाहने वाले लोग आज भी चारों तरफ बिखरे हुए हैं। जरूरत है कि इन बिखरे हुए लोगों को एकजुट किया जाये और मिलकर हर तरह के शोषण, गुलामी और जुल्म के खिलाफ आवाज बुलन्द की जाये। सिर्फ विचार ही पर्याप्त नहीं है, सोचने से ही कुछ नहीं होगा, कार्रवाई करनी होगी।

विचारों को अमल में लाना होगा; भगतसिंह की तरह, चे ग्वेरा की तरह, मखदूम मोहिउद्दीन की तरह।

सन्दर्भ

1. बिसात-ए-रक्स, मखदूम मोहिउद्दीन, मुहिबी मखदूम, सिब्ते हसन, संस्करण, 2015, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमिटेड, नयी दिल्ली, पृष्ठ 5, 6।
2. उपर्युक्त, पढ़ने वालों से, पृष्ठ 13।
3. अमिल्कर कबराल : जीवन-संघर्ष और विचार, अनुवाद और संपादन - आनन्द स्वरूप वर्मा, कविता, अनुवाद-- मंगलेश डबराल, प्रथम संस्करण, 2020, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 141।
4. मेहनत और मोहब्बत के शायर मखदूम मोहिउद्दीन, विष्णु प्रभाकर, समकालीन जनमत, 4 फरवरी, 2020।
5. नाजीवादी जर्मनी की मनोदशा, कार्ल जी युंग, अनुवाद-- दिगम्बर, प्रथम संस्करण, 2017, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 102।
6. मेहनत और मोहब्बत के शायर मखदूम मोहिउद्दीन, विष्णु प्रभाकर, समकालीन जनमत, 4 फरवरी, 2020।
7. बिसात-ए-रक्स, मखदूम मोहिउद्दीन, मुहिबी मखदूम, सिब्ते हसन, संस्करण, 2015, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमिटेड, नयी दिल्ली, पृष्ठ 7 ।
8. उपर्युक्त, मखदूम मोहिउद्दीन, पढ़ने वालों से, पृष्ठ 13।
9. केन सारो-वीवा : संघर्ष और बलिदान की गाथा, आनन्द स्वरूप वर्मा, प्रथम संस्करण, जनवरी, 2019, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 18।
10. सन् 1946 का जन उभार, डॉ. खगेन्द्र ठाकुर, साम्य, अंक 24, 1946, अधूरी क्रान्ति, फरवरी, 1998, सम्पादक-- विजय गुप्त, छ.ग. प्रगतिशील लेखक संघ, अम्बिकापुर, पृष्ठ 64।
11. मुज्तबा हुसैन के खाके, अनुवाद : डॉ. रहील सिद्दीकी, प्रथम संस्करण, 2010, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 31।
12. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, एहतेशाम हुसैन, प्रथम संस्करण, 2011, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 236।
13. मुज्तबा हुसैन के खाके, अनुवाद : डॉ. रहील सिद्दीकी, प्रथम संस्करण, 2010, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 30, 31।
14. सरमाया : मखदूम मोहिउद्दीन, संपादक : स्वाधीन, नुसरत मोहिउद्दीन, लेख : मखदूम मोहिउद्दीन : यादों में बसा आदमी, मुज्तबा हुसैन के खाके, प्रथम संस्करण, 2004, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 40, 41।
15. रौशनाई : तरक्कीपसन्द तहरीक की यादें, उर्दू से अनुवाद : जानकी प्रसाद शर्मा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 240।
16. महादृश्य में अकेले : स्वाधीन, प्रथम संस्करण, जुलाई, 2017, द एलिगेण्ट पब्लिकेशन्स, कोलकाता, पृष्ठ 120।
17. उपर्युक्त, पृष्ठ 123।

(इस आलेख के लिए सामग्री संचयन में वरिष्ठ अधिवक्ता और उर्दू साहित्य के मर्मज्ञ जनाब अब्दुल रशीद सिद्दीकी साहब, एहतेशाम सिद्दीकी, शाकिर अली, रफीक खान, डॉक्टर रामकुमार मिश्र और उमाकान्त पाण्डेय का हार्दिक आभार।)

जाल-ए-दुनिया[1] की बदहाली

इस तालिब-ए-दुनिया[2] का दस्तूर बदलना होगा

जाहिर न था नहीं सही लेकिन जुहूर था
कुछ क्यूँ न था जहान में कुछ तो जरूर था।

-- नातिक गुलावठी

चारों तरफ अजीब से खौफ का मंजर है। रोजी-रोटी की तलाश में दर-ब-दर की ठोकर, फरेब का बोलबाला, मेहनतकशों की बदहाली और मुनाफाखोरों की *मौज-ए-बहारॉं*। हुक्मराँ ने अपना लक्ष्य तय कर लिया है। उसकी निगाह बाज सी तेज और दिमाग लोमड़ी सा शातिर है। उसका लक्ष्य मुनाफाखोरों, सट्टेबाजों, जालसाजों और नराधम खून के प्यासे भेड़ियों की हिफाजत करना है। वह इतना चालाक है कि अपना घृणित मंसूबा आवाम के बीच उजागर नहीं होने देता। वह दिन प्रतिदिन खुद को आवाम का सबसे बड़ा हितैशी साबित करने की जुगत में अपने प्रचार माध्यम को पूरी ताकत के साथ लगाये रखता है। वह चाहता है कि ये *तालिब-ए-दुनिया* यूँ ही चलती रहे। मुनाफा मेहनतकश पर हुकूमत करता रहे। इस ख्याली पुलाव को वह रोज पकाता है। सच्चाई पर पर्दा डालने की भरसक कोशिश करता रहता है, फिर भी मुनाफाखोरों के चमचमाते और मेहनतकशों के पीड़ादायक जीवन की सच्चाई हर रोज उजागर हो जाती है। आवाम इस भेदभाव, असामनता और लाचारी को हर रोज अपनी जिन्दगी में ढो रहा है।

हुक्मराँ अपनी एकतरफा बात आवाम पर थोपने से नहीं हिचकिचाता क्योंकि इसके राज में सवाल करना गुनाह करार दिया गया है। अब आवाम का सवाल करना तो लाजिम है क्योंकि हुक्मराँ ने सरसों के तेल के दाम में 39 फीसदी और खाद्य तेलों के दामों में 52 फीसदी तक औसत वृद्धि कर दी है। आवाम की जेब खाली हो रही है और हुक्मराँ "अमृत महोत्सव" मनाने में मद मस्त है। इनसान खर्च करने के लायक तभी होता है जब उसकी जेब मे रुपया हो और रुपया रोजी-रोजगार करने से आता है। इस बात में भी हुक्मराँ ने अपना जनहितैशी होने का ढोंग करने मे कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी और हर साल लगभग 2 करोड़ रोजगार देने का वायदा किया। 2 करोड़ रोजगार मिलना तो दूर देशभर में केवल जुलाई महीने के अन्दर ही लगभग 32 लाख लोग अपने रोजी-रोजगार से हाथ धो बैठे। अब इन लोगों के और इनके परिवार वालों के भोजन, चिकित्सा, शिक्षा आादि जैसी बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था कौन करें?

मेहनतकश आवाम को "गरीब कल्याण योजना" के अन्तर्गत किलो-दो-किलो अनाज, चावल देकर आवाम का मजाक उड़ाना है। यह सब प्रचार के माध्यम से खुद का महिमामण्डन करने से अधिक और कुछ नहीं। आनलाइन शिक्षा के नाम पर बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। यूनिसेफ की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश में करीब 15 लाख से अधिक स्कूल बन्द पड़े हैं, जिससे करीब 28.6 करोड़ बच्चों की शिक्षा प्रभावित हो रही है और देश में बस 24 फीसदी छात्रों के पास ही इण्टरनेट सुविधा उपलब्ध है। ऐसे वक्त में प्रतिदिन की दिहाड़ी पर अपना गुजारा करने वाले मेहनतकश अपने बच्चों की पढ़ाई कराने के लिए महँगें दामों वालों उच्च तकनीकी सुविधायुक्त मोबाइल फोन कैसे खरीदें? उन्हें मोबाइल और रोटी के बीच चुनाव का सवाल दिन-रात सताता रहता है और अन्त में रोटी का चुनाव प्राथमिकता पर आ जाता है क्योंकि यह जिन्दा रहने की अनिवार्य शर्त है। बच्चों का शिक्षा से दूर-दराज तक कोई वास्ता नहीं रहता है। इसी तरह मेहनतकशों के बच्चे गलियों में घूमते हैं या फिर अवारा पशुओं, जानवरों को अपने खेल और मनोरजंन का सहारा बना लेते हैं। हुक्मराँ एक ओलम्पिक मैच के पूरे शो को देखता है और मैच खत्म होने के ठीक एक सेकेण्ड बाद ट्वीट करके खिलाड़ियों को उत्साहवर्धन और हार्दिक बधाईयों के सन्देश देता है। हुक्मराँ की तारीफ में "चौमासे के मेंढक" बोलने लगते है कि यह ट्वीट "बेहतर भारत की तरफ एक इशारा है" और इससे पूरे देश का भविष्य उज्जवल होगा। क्या हुक्मराँ के द्वारा एक शो को पूरा देखने और ट्वीट करने भर से देश के बच्चों और युवाओं का भविश्य उज्जवल होगा? असल सवाल यह है कि हुक्मराँ ने खेल-कूद में रुचि रखने वाले बच्चों और युवाओं के लिए क्या इन्तजाम किये हैं? 31 जनवरी 2018 को 'खेलो-इण्डिया आयोजन' में की गयी लम्बी-चौड़ी घोषणाओं की सच्चाई यह है कि मार्च 2021 में राज्य सभा की स्थायी समिति ने अपनी एक रिपोर्ट में बताया कि 'खेलो-इण्डिया आयोजन' के तहत 100 राष्ट्रीय खेल एकेडमी बननी थी, जिनमें से केवल 45 ही बनी। इसके अलावा 1000 छोटी-छोटी खेल एकेडमी बनायी जानी थी जिनमें से केवल 106 ही बनीं, इनमें से भी 60 ऐसी हैं जो पहले से ही बनी थी जिनकी केवल डेंटिंग-पेंटिंग की गयी। असल में जमीनी काम बहुत कम करना और नाम बदलकर निजीकरण करना इस हुक्मराँ की पुरानी आदत का हिस्सा

है। क्या ये 45 खेल केन्द्र 130 करोड़ की आबादी वाले देश में खेल कौशल को बढ़ाने के लिए पर्याप्त है?

दरअसल, मौजूदा दुनिया का दस्तूर ही कुछ ऐसा है कि इसमें चन्द घरानों की खुशी को ध्यान में रखकर ही फैसले लिए जाते है जिसका एक उदाहरण यह है कि पिछले साल भारतीय अरबपतियों की कुल संख्या 102 थी, जो अब बढ़कर 140 हो गयी। उनकी कुल सम्पत्ति लगभग दोगुनी होकर 596 अरब डॉलर हो गयी, जो कई राज्यों की कुल जीडीपी से कई गुना अधिक है। भारत अब संयुक्त राज्य अमरीका और चीन के बाद दुनिया में अरबपतियों की संख्या वाली जमात में शामिल हो रहा है। इसी को हुक्मराँ विकास और समृद्धि का नाम देते है। क्या यह सचमुच पूरे देश की समृद्धि है या फिर चन्द घरानों की मौज है? एक-एक कर रोजी-रोटी, शिक्षा, चिकित्सा जैसी तमाम बुनियादी जरूरतें मुनाफे की भेंट चढ़ चुकी हैं। जिनका जिक्र मुख्य धारा के प्रचार तंत्र से गायब है। मुनाफे की रफ्तार इतनी अधिक है कि औसतन 1.13 लाख रुपये प्रति सेकण्ड के हिसाब से अरबपति अपनी सम्पत्ति बढ़ा रहे हैं। दरअसल दौलत का सकेन्द्रण लगातार तेज गति से बढ़ता जा रहा है और व्यवस्था अपने अन्तिम साँस गिन रही है। इसको हर रोज एक नयी साँस दिलाने के लिए मुनाफाखोरों द्वारा नये-नये कलाकार रंगमंच पर उतारे जा रहे हैं, जिनमें से एक कलाकार अपनी कलाकारी दुनिया भर में दिखाता घूम रहा है। उसका नाम और उसकी कूपमण्डूकता जग-जाहिर है।

मौजूदा व्यवस्था, बहुसंख्यक मेहनतकश अवाम के हक-हकूक में फैसले कभी नहीं ले सकती। यह व्यवस्था पूर्ण रूप से मुनाफे की जकड में है। मुनाफाखोरी इसके लिए प्राथमिकता की चीज है। बहुसंख्यक आबादी के हिस्से गरीबी, लाचारी, बेरोजगारी, अशिक्षा, अज्ञानता जैसी मुश्किलें ही आती हैं। इस बन्धन का तोड़ा जाना बेहद लाजिम है क्योंकि मुनाफापरस्त इस दुनिया में अवाम की बिल्कुल भी भलाई नहीं है। इसलिए हम सब मिल-जुलकर अपनी चेतना के स्तर को उन्नत करें और देश-दुनिया के स्तर पर चल रही समस्याओं की सच्चाई से वैज्ञानिकता के साथ रूबरू हों। तभी इस *तालिब-ए-दुनिया* की जगह पर एक खूबसूरत दुनिया की रचना सम्भव है।

1. जाल-ए-दुनिया -- बूढ़ी दुनिया
2. तालिब-ए-दुनिया -- लालची दुनिया

-सोनू पवाँर

सरमाएदारी

कलेजा फुक रहा है और जबाँ कहने से आरी है।
बताऊँ क्या तुम्हें क्या चीज यह सरमाएदारी है।

यह वह आँधी है जिसके रो में मुफलिस का नशेमन है,
यह वह बिजली है जिसकी जद में हर दहकान का खरमन है।

यह अपने हाथ में तहजीब का फानूस लेती है,
मगर मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है।

यह इनसानी बला खुद खूने इनसानी की गाहक है,
वबा से बढ़कर मुहलक, मौत से बढ़कर भयानक है।

न देखें हैं बुरे इसने, न परखे हैं भले इसने,
शिकंजों में जकड़ कर घोंट डाले है गले इसने।

कहीं यह खूँ से फरदे माल व जर तहरीर करती है,
कहीं यह हड्डियाँ चुन कर महल तामीर करती है।

गरीबों का मुकद्दस खून पी-पी कर बहकती है
महल में नाचती है रक्सगाहों में थिरकती है।

जिधर चलती है बर्बादी के सामाँ साथ चलते हैं,
नहूसत हमसफर होती है साथ चलते हैं।

यह अक्सर टूटकर मासूम इनसानों की राहों में,
खुदा के जमजमें गाती है, छुपकर खनकाहों में।

यह गैरत छीन लेती है, हिम्मत छीन लेती है,
यह इनसानों से इनसानों की फतरत छीन लेती है।

गरजती, गूँजती यह आज भी मैदाँ में आती है,
मगर बदमस्त है हर हर कदम पर लड़खड़ाती है।

मुबारक दोस्तों लबरेज है इस का पैमाना,
उठाओ आँधियाँ कमजोर है बुनियादे काशाना।

-- मजाज लखनवी

बच्चों का बचपन और बड़ों की जवानी छीन रहा है मोबाइल

मोबाइल बच्चों का बचपन छीन रहा है। आजकल के बच्चे ऐसे खेल खेलना पसन्द ही नहीं करते हैं जिसमें शारीरिक परिश्रम हो। मोबाइल की लत बच्चों पर इस कदर हावी होती जा रही है कि बच्चे इसके लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए बेकरार रहते हैं और वे मोबाइल पर थोड़ी देर नहीं बल्कि दिन भर ही लगे रहते हैं। अगर आपका बच्चा भी इसी राह पर आगे बढ़ रहा है तो आपके लिए खतरे की घण्टी है क्योंकि मोबाइल आपके बच्चे से उसका बचपन छीन रहा है।

मोबाइल की लत एक बार फिर सुर्खियों में है। हरियाणा में 9 साल के एक बच्चे को इसकी इतनी बुरी लत थी कि उसने स्मार्टफोन छीने जाने की वजह से अपना हाथ काटने की कोशिश की। मोबाइल की लत का ये इकलौता मामला नहीं है। देश भर में बच्चे और युवा बड़ी संख्या में मोबाइल की लत के शिकार हो रहे हैं।

12 साल का अविनाश मोबाइल के बिना एक पल नहीं रह सकता। उससे अगर मोबाइल छीन लिया जाये तो वो गुस्से में आ जाता है। ऐसी ही लत है भोपाल यूनिवर्सिटी की प्रिया को। उसे व्हाट्सऐप की ऐसी लत लगी कि वह पूरी रात जगी रह जाती है। अब वह इस लत से छुटकारा पाने के लिए मानसिक अस्पताल में काउन्सलिंग ले रही है।

मोबाइल की लत इस कदर हावी होती जा रही है कि बच्चे आपराधिक भी होते जा रहे हैं और गलत कदम तक उठा रहे हैं। अभी हाल ही में ग्रेटर नोएडा में एक 16 वर्षीय लड़के ने अपनी माँ और बहन की हत्या कर दी क्योंकि बहन ने शिकायत कर दी थी कि भाई दिन भर मोबाइल फोन पर खतरनाक गेम खेलता रहता है और इसलिए माँ ने बेटे की पिटाई की, उसे डाँटा और उसका मोबाइल छीन लिया। मोबाइल पर मारधाड़ वाले गेम खेलते रहने के आदी लड़के का गुस्सा इससे बढ़ गया कि उसने अपनी माँ और बहन की हत्या कर दी और घर से भाग गया। इसी तरह कुछ महीनों पहले कोटा में एक 16 वर्षीय किशोर ने फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली। पुलिस की जाँच पड़ताल में पता चला कि बच्चे को पबजी गेम खेलने की लत थी और दिनभर मोबाइल में गेम खेलता रहता था। जब घरवालों ने मोबाइल छीन लिया और देने से मना कर दिया तो यह गलत कदम उठा लिया।

मोबाइल और साइबर एडिक्शन अब एक गम्भीर समस्या बनती जा रही है जो हमारी दिनचर्या पर बुरा असर डाल रही है। इससे मानसिक विचलन और चिड़चिड़ापन बढ़ता जा रहा है कि हम छोटी छोटी बातों पर घर-परिवार के सदस्यों पर गुस्सा करने लग गये हैं।

मोबाइल अब केवल बच्चों के लिए ही समस्या नहीं है, बल्कि बड़े भी इसकी चपेट में हैं। यह सिर्फ फोन या मैसेज करने तक ही सीमित नहीं रहा है। ना जाने कितने ही तरह के ऐप्स, व्हाट्सएप, फेसबुक जैसी सोशल मीडिया एप, और गेम्स हमें दिन भर व्यस्त रखते हैं। लेकिन अगर मोबाइल के बिना आपको बैचैनी होती है तो समझ जाइये कि आप भी इस एडिक्शन के शिकार होते जा रहे हैं जो आपके लिए चिन्ता की बात है। वहीं मोबाइल एडिक्शन में सबसे बड़ी समस्या इसकी पहचान को लेकर होती है। आखिर कैसे पता चले कि मोबाइल आपकी जरूरत भर है या आपको इसकी लत लग गयी है। यह आपकी दिनचर्या और मोबाइल के साथ बिताये जाने वाले आपके समय से पता चल सकता है।

स्मार्टफोन हमारी जिन्दगी में इस कदर शामिल हो चुका है कि दफ्तर हो या घर, हर वक्त वो हमारे हाथ में ही रहता है। छोटी-छोटी उम्र के बच्चे से लेकर जवान और बूढ़े तक इसके आदी होते जा रहे हैं। व्हाट्सएप, फेसबुक, गेम्स सब कुछ स्मार्टफोन पर होने की वजह से बच्चों और युवाओं में इसकी आदत अब धीरे-धीरे लत में तब्दील होती जा रही है।

आजकल अपने विषय से सम्बन्धित किसी प्रश्न को समझने में दिक्कत आती है तो वह खुद पढ़कर, समझकर या किसी जानकार से पूछने के बजाय गूगल का सहारा लेकर उत्तर खोजने की कोशिश करता है। यह जरूरत के हिसाब से हो तो गलत भी नहीं है, पर अब यह तरीका लोगों की आदत बन चुका है। वे अपने प्रश्नों का हल या समस्या का निवारण किताबों में ढूँढकर पढ़ने के बजाय केवल मोबाइल पर ढूँढने के आदी होते जा रहे हैं जो उचित नहीं है।

देश में निम्हांस, एआईआईएमएस और सर गंगाराम अस्पताल जैसे संस्थानों में मोबाइल की लत के शिकार लोगों के इलाज के लिए खास क्लीनिक हैं। और, यहाँ आने वाले मरीजों की संख्या अब दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। मोबाइल और एप बनाने वाली कम्पनियाँ अपने मुनाफे के लिए कितनी अमानवीय हो गयी हैं कि यह सब जानते हुए भी लोगों को मानसिक रोग के गड्ढे में धकेल रही हैं। वे नये-नये गेम बनाकर मुनाफा बटोर रही हैं।

-- नवीन गौतम

क्यूबा तुम्हारे आगे घुटने नहीं टेकेगा, बाइडेन

पिछले दिनों क्यूबा में भोजन और दवाई की कमी को लेकर सरकार के खिलाफ प्रदर्शन हुए हैं। इन प्रदर्शनों को साम्राज्यवादी मीडिया में ऐसे दिखाया गया मानो क्यूबा में समाजवादी सत्ता का तख्तापलट हो रहा हो। यह सच है कि क्यूबा लम्बे समय से आर्थिक संकट से जूझ रहा है। कोरोना महामारी और वेनेजुएला से तेल आपूर्ति में भारी कमी ने और भी गम्भीर हालात पैदा कर दिये। इसके साथ ही अमरीकी प्रतिबन्धों के और ज्यादा कठोर हो जाने से देश में भोजन और दवाओं की भारी कमी हो गयी।

कोरोना महामारी में हमने देशों को दूसरों की मदद करते देखा है, लेकिन क्यूबा के मामले में स्थिति बिल्कुल उल्टी है। सभी जानते हैं कि कोरोना की पिछली लहर के दौरान क्यूबा ने बहुत से देशों की मदद की थी। क्यूबा से मदद पाने वालें में यूरोपीय देश भी थे। लेकिन संकट की घड़ी में कोई भी यूरोपीय, एशियाई या अफ्रीकी देश क्यूबा की मदद के लिए आगे नहीं आया। सभी अमरीका की दादागिरी के आगे नाक रगड़ रहे हैं।

क्यूबा सभी देशों से अलग अपने देश को जनता के हित में समाजवादी तौर-तरीकों से चलाने की कोशिश कर रहा है। कोरोना महामारी से जहाँ अमरीका और यूरोप के ताकतवर देश पस्त हो गये, वहीं क्यूबा ने महामारी पर शानदार ढंग से जीत हासिल की। उसकी स्वास्थ्य नीतियों की पूरी दुनिया में प्रशंसा हुई और अमरीका समेत कई देशों की जनता ने अपनी सरकारों से क्यूबा जैसी नागरिकों को मुफ्त स्वास्थ्य सेवा देने वाली सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली कायम करने की माँग की। यही बात साम्राज्यवादी अमरीका को बेहद नागवार गुजरी।

ट्रम्प प्रशासन ने क्यूबा पर लगे प्रतिबन्धों को महामारी के दौरान और ज्यादा कठोर कर दिया था। नयी बनी बाइडेन की सरकार ने प्रतिबन्धों में ढील देने के बजाय उन्हें और भी ज्यादा कड़ा करके क्यूबा की कमर तोड़ने और वहाँ दंगे भड़काने की असफल कोशिश की। अमरीका की नयी डेमोक्रेट सरकार क्यूबा के लिए नये संकट लेकर आयी है, उसके आने से अमरीका में कुछ नहीं बदला है।

यह सच है कि आर्थिक प्रतिबन्धों और महामारी के कारण क्यूबा में भोजन के दामों मे बढ़ोतरी हुई थी और दवाओं की कमी भी हुई थी। यह भी सच है कि इसके चलते कुछ लोगों ने जुलाई के दूसरे सप्ताह में सरकार के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किये थे। क्यूबा से भागकर अमरीका के फ्लोरिडा में बसे, क्यूबा की समाजवादी नीतियों के धुर विरोधी, धनी क्यूबाई लोगों को अमरीकी सरकार ने खुलेआम लाखों डॉलर की रिश्वत देकर उनकी सहायता से इन प्रदर्शनों को हवा देने की जी जान से कोशिश की। विरोध प्रदर्शनों को क्यूबा के सभी शहरों में फैलाने के लिए अमरीका के दैत्याकार सोशल मीडिया गिरोह ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। फ्लोरिडा के गर्वनर और दक्षिणपंथी रिपब्लिकन रिंक डेसेंटिस ने तो खुले तौर पर क्यूबा में सत्ता परिवर्तन का आह्वान किया और डेड काऊन्टी, मियामी के मेयर फ्रान्सिस सुआरेज ने इससे भी आगे बढ़कर बाइडेन प्रशासन से क्यूबा में सैन्य हस्तक्षेप की माँग की।

क्यूबा में सरकार के खिलाफ प्रदर्शन कोई अचम्भे की बात नहीं है लेकिन यह पिछले एक दशक में पहली बार हुआ कि प्रदर्शनकारियों ने सैनिकों को निशाना बनाया और कुछ दुकानों को भी लूटा। निश्चय ही अमरीका को अपनी करतूतों का थोड़ा सा फल तो मिला है।

प्रदर्शनों के दौरान क्यूबा के राष्ट्रपति डियाज-कैनेल खुद सैन एण्टोनिया डी लास शहर मे प्रदर्शनकारियों के बीच पहुँचे और उनकी सभा में जाकर उनके तमाम सवालों का जवाब दिया तथा उनकी माँगों को पूरा करने में समाने आ रही समस्याओं को गिनवाया। दुनिया के किसी पूँजीवादी देश में या तथाकथित लोकतंत्र के सबसे बड़े पैरोकार खुद अमरीका में ही ऐसी लोकतान्त्रिक घटना की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

तमाम तरह के प्रतिबन्धों और खुफिया एजेन्सियों की काली करतूतों के अलावा अमरीका हर साल क्यूबा के सरकार विरोधी समूहों को 2 करोड़ डॉलर की खुली सहायता देता है। क्यूबा को संकट मे फँसा जानकर बाइडेन प्रशासन ने यह रकम अचानक दो गुनी कर दी है। अफसोस, कि अमरीका को फिर भी मुँह की खानी पड़ी और हफ्ताभर में ही प्रदर्शनकारी अपने घरों को लौट गये।

अमरीका की सत्ता में डेमोक्रेट हो या रिपब्लिकन, इससे क्यूबा के लिए कुछ नहीं बदलता। डेमोक्रेट बाइडेन की क्यूबा विरोधी-करतूतों से ठीक पहले रिपब्लिकन ट्रम्प प्रशासन ने क्यूबा पर नये तरह के 243 प्रतिबन्ध लगाये थे जिसमें यात्रा प्रतिबन्ध भी शामिल है। बाइडेन प्रशासन में यह सभी प्रतिबन्ध तो ज्यों के त्यों बने हुए हैं, इनके अलावा कुछ नये प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं।

अमरीका क्यूबा की समाजवादी सत्ता को ढहाकर मुक्त बाजार की सेवा करने वाली सरकार बनाना चाहता है। राष्ट्रपति डियाज-कैनेल अमरीकी मंशा को बखूबी जानते हैं। प्रदर्शन के दौरान मीडिया को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि "क्यूबा मे चल रहे विरोध प्रदर्शन को प्रोत्साहन देने वालों के मन में क्यूबा

के लोगों के प्रति भलाई नहीं है, बल्कि वे क्यूबा की उच्च शिक्षा और चिकित्सा में निजीकरण के नवउदारवादी एजेण्डे को पूरा करना चाहते हैं।"

तमाम तरह के आर्थिक प्रतिबन्धों, आर्थिक संकट और सत्ता परिवर्तन की अमरीका की जी तोड़ कोशिशों के बावजूद क्यूबा कोरोना के टीकाकरण के मामले में दुनिया में उन्नत स्थान पर है। पेटेण्ट कानूनों के जरिये हर तरह के ज्ञान पर काबिज दुनिया के साम्राज्यवादी देशों ने क्यूबा को न तो कोरोना का टीका दिया और ना ही उसे तैयार करने वाली तकनीक और कच्चा माल। इस छोटे से बहादुर देश ने महामारी से निपटने के लिए अपने खुद के पाँच तरह के टीके तैयार किये हैं।

क्यूबा के लोगों को ऑक्सीजन या बेड की कमी के कारण मरना नहीं पड़ रहा है। इसलिए क्यूबा के लोग देश की सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था के लिए अमरीकी साम्राज्यवाद से निडरता से लड़ रहे हैं और इंच भर भी पीछे नहीं हटे हैं। इसके उलट अमरीका को मुँह की खानी पड़ी है। तमाम तरह के प्रतिबन्धों के बावजूद क्यूबा के मेहनतकश लोगों ने बहुत जल्दी और बहुत हद तक भोजन और दवाई की कमी पर भी काबू पा लिया है। दूर-दूर तक नहीं लगता कि क्यूबा अमरीका के सामने-आत्मसमर्पण कर देगा।

क्यूबा के राष्ट्रपति ने विरोध प्रदर्शन के दौरान ही कहा था कि "हम अपनी सम्प्रभुता, क्यूबा के लोगों की स्वतंत्रता और आजादी का समर्पण नहीं करेंगे"। हम क्रान्तिकारी हैं और अपना जीवन भी दाँव पर लगाने के लिए तैयार हैं।"

क्यूबा के इस क्रान्तिकारी जज्बे, हौसले, दृढ़ संकल्प और संघर्ष को सलाम!

-- आदर्श चौहान

खेल और खिलाड़ियों का इस्तेमाल 'फेस पॉउडर' की तरह भी हो सकता है!

8 अगस्त को सम्पन्न टोक्यो ओलम्पिक में भारतीय खिलाड़ियों ने कुल 7 पदक जीते हैं। भारत के पास इस खेल आयोजन में हिस्सेदारी का 121 साल का अनुभव है। इसके बावजूद बेहद लचर प्रदर्शन भारत में खेलों की दुर्दशा की तस्वीर दिखा देता है। भारत की जनसंख्या लगभग 136 करोड़ है। यह दुनिया की सबसे अधिक युवा अबादी वाला देश है। अगर आबादी और इस साल ओलम्पिक में हासिल पदक का अनुपात निकालें तो लगभग 20 करोड़ लोगों पर एक पदक का औसत आता है। आस्ट्रेलिया में यह औसत 5434 लोगों पर एक पदक का है। इस हिसाब से आस्ट्रेलिया ने भारत से 36,000 गुणा बेहतर प्रर्दशन किया है।

पिछले सात सालों में नरेन्द्र मोदी और भाजपा की छवि चमकाने के एक से एक नायाब तरीके खोजे गये हैं। यहाँ तक कि जिन चीजों पर शर्मिन्दा होना चाहिए उनका इस्तेमाल भी छवि चमकाने में हुआ है। ओलम्पिक में भारत का प्रर्दशन भी इसी का एक उदाहरण है। मोदी सरकार ने ओलम्पिक और उसमें हिस्सा लेने वाले भारतीय खिलाड़ियों का इस्तेमाल ठीक उसी तरह किया है जैसे मलिन चेहरे को चमकाने के लिए 'फेस पॉउडर' का होता है। ओलम्पिक की तैयारी के दौरान ही ऐसा धुआँधार प्रचार अभियान शुरू हो गया था मानो खिलाड़ी नहीं बल्कि मोदी और भाजपा ओलम्पिक की तैयारी कर रहे हों। बाद में ऐसा लगा मानो वही खेले हों और जो पदक आये हैं उन्हें प्रधानमंत्री मोदी और भाजपा ही जीतकर लायी हो।

भारतीय खिलाड़ियों के टोक्यो पहुँचने से पहले ही, 24 जून को "चीयर फॉर इण्डिया" कार्यक्रम शुरू किया गया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य भारतीय खिलाड़ियों का मनोबल बढ़ाना बताया गया था, लेकिन इस पोर्टल की बेवसाइट का नाम 'चीयर फॉर इण्डिया डॉट नरेन्द्र मोदी' रखा गया। पोर्टल खुलते ही मोदी की तस्वीर सामने आती थी। खिलाड़ियों की तस्वीर के साथ भी मोदी ही खड़े मिलते थे। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री के कथनों के बगैर किसी खिलाड़ी को शुभकामनाएँ नहीं भेजी जा सकती थी। जब मोदी का चेहरा चमकाने का यह कार्यक्रम कुछ खास नहीं कर पाया तो इसे 'बूस्ट' करने के लिए 22 जुलाई को 'वी लाइक एन ओलम्पियन' कार्यक्रम की शुरुआत की गयी। इस पर भी भाजपा और प्रधानमंत्री के पोस्टर वायरल किये गये। इसके बावजूद चेहरे की मलिनता कम होती नहीं दिखी तो खेल मंत्री अनुराग ठाकुर ने 'हमारा विक्टरी पंच' नाम से एक और 'कैम्पेन' की शुरुआत की, ठीक उसी अन्दाज में जैसे उन्होंने 'गोली मारो सालों को' का नारा दिया था। इस कैम्पेन का नाम ही ओलम्पिक की भावना के विरुद्ध और भड़काऊ था। इसमें लोगों को अपने घरों से ही वीडियो बनाकर वायरल करने को कहा गया।

9 अगस्त को दिल्ली के अशोका होटल में ओलम्पिक पदक जीतकर लाने वाले खिलाड़ियों का सम्मान समारोह किया गया।

वहाँ प्रधानमंत्री तो मौजूद नहीं थे लेकिन मंच के होर्डिंग बोर्ड पर लगी उनकी आदमकद तस्वीर ने उनकी कमी नहीं खलने दी। इस होर्डिंग पर खिलाड़ियों की तस्वीरें बहुत छोटी और मामूली थी और मोदी जी को एक सुपर प्लेयर की तरह दिखाया गया था। खिलाड़ियों का इस्तेमाल फिर से मलिन चेहरे को उजला करने के लिए हो रहा था।

16 अगस्त को प्रधानमंत्री ने खिलाड़ियों के साथ एक दावत रखी, जिसमें अधिकांश समय मोदी जी ने अपनी और अपनी पार्टी के लोगों की तारिफों के पूल बाँधे और खिलाड़ियों ने मद्धिम मुस्कान के साथ उन्हें सुना। दावत में चूरमा और आइस्क्रीम चर्चा का मुख्य विषय रहे। वहाँ भारत में खेल की नीति, खिलाड़ियों की समस्याओं जैसे असुविधाजनक विषयों को चर्चा से दूर ही रखा गया। वजह साफ थी, खिलाड़ी 'फेस पॉउडर' के तौर पर आमंत्रित थे, खिलाड़ी के तौर पर नहीं।

ओलम्पिक के पहले से ही चल रहे इस तरह के कार्यक्रमों में कहीं भी भारत में खेल की स्थिति, खेल की चुनौतियाँ, खेल भावना, खेलों का उद्देश्य, खेल नीति जैसे विषयों पर कोई बात नहीं की गयी। इनका एक मात्र उद्देश्य था प्रधानमंत्री और भाजपा का प्रचार करना और पिछले डेढ़ साल में प्रधानमंत्री की छवि में आयी गिरावट की भरपाई करना।

गली मोहल्ले में रोज पिटने वाले किसी अहमक को बार-बार पहलवान जी कहें तो उसे गौरव की अनुभूति होती है। इसी तर्ज पर मोदी सरकार में कार्यकर्ता से लेकर प्रधानमंत्री तक भारत को हर क्षेत्र में महाशक्ति बनाने से कम कोई बात नहीं करते। ओलम्पिक के उद्घाटन समारोह में अनुराग ठाकुर ने कहा-- "पिछले सात वर्षों में हमने प्रधानमंत्री मोदी जी के नेतृत्व में भारत को खेल महाशक्ति बनाने के लिए जमीनी स्तर पर काम किया है।" जो उन्होंने किया था वह ओलम्पिक में सामने आ गया।

दिन रात महाशक्ति का राग अलापने वालों का खेल बजट और उसका आवण्टन यह साफ कर देता है कि देश को खेल महाशिक्त बनाने काम चल रहा है या मोदी जी और बीजेपी की छवि चमकाने का। वर्ष 2020-21 में भारत का कुल खेल बजट 2826 करोड़ रुपये था। इस मामूली बजट को भी बाद में घटाकर 1800 करोड़ कर दिया गया। यानी सरकार ने देश के हर व्यक्ति की खेल जरूरत को पूरा करने के लिए मात्र 15 रुपये का बजट दिया। इस पैसे से बच्चे की एक गेंद भी नहीं आएगी। कमाल यह है कि इस बजट का एक मामूली हिस्सा ही वास्तव में खेल पर खर्च हुआ। भारत के पडोसी देश चीन का खेल बजट 36.6 अरब रुपये है जो भारत के खेल बजट से 17.5 गुणा अधिक है। बिटेन की जनसंख्या भारत से 18.5 गुणा कम है जबकि उसका खेल बजट 1.1 खरब रुपये का है। इन देशों ने कभी खेल महाशक्ति बनने जैसे वाहियात दावे नहीं किये।

भारतीय खेल प्राधिकरण भारत का सर्वोच्च खेल निकाय है। इसका उद्देश्य खिलाड़ियों की प्रतिभा को निखारना है। इस बजट से इसे मात्र 614 करोड़ रुपये मिले। 1998 में नेशनल स्पोर्ट डेवलपमेण्ट फण्ड (एनएसडीएफ) की स्थापना की गयी थी। इसका मुख्य काम आर्थिक रूप से कमजोर खिलाड़ियों की मदद करना था। इस बार एनएसडीएफ का बजट मात्र 50 करोड़ रुपये है जो पिछले बजट से 27 करोड़ रुपये कम है।

बजट का सबसे बड़ा हिस्सा, 891 करोड़ रुपये 'खेलो इण्डिया' कार्यक्रम के लिए आवंटित हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य खेल योजनाओं के जरिये प्रधानमंत्री का प्रचार करना है। हालाँकि, दावा किया गया था कि इस योजना से देश में हर साल नये कुशल खिलाड़ी खोजे जाएँगे और जिला स्तर पर हर साल 100 नये स्टेडियम बनाये जाएँगे। दो वर्ष बीत चुके है स्मार्ट सिटी की तरह नये स्टेडियम बनाना भी एक जुमला साबित हुआ।

आज भारत में समाज का इस हद तक मशीनीकरण कर दिया गया है कि खेलों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसके अलावा नाममात्र की खेल संस्थाओं में भी धर्मवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद का बोलबाला है। खेल संस्थाएँ आकण्ठ भ्रष्टाचार में डूबी हैं। सरकार की कोई खेल नीति नहीं है जिससे आम जनता को खेल-कूद में भागीदारी करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

खेलों को प्रोत्साहन देने की सबसे पहली जगह प्राथमिक स्कूल हैं, जहाँ बचपन से ही बच्चों को खेल-कूद के प्रति जागरूक किया जाना सम्भव है। उन्हें खेलों के उद्देश्य और खेल भावना की शिक्षा के साथ-साथ खेलों में भागीदारी के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है, लेकिन 62 फीसदी स्कूलों मे बच्चों के खेलने की जगह ही नहीं है। शारीरिक शिक्षा और खेल-कूद से सम्बन्धित विषयों की किताबें अब पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं रहीं।

खेल हमेशा मानव सभ्यताओं का हिस्सा रहा है। यह एक स्वस्थ्य समाज की पहचान है। जिस देश और समाज के रहनुमाओं ने समाज को रूग्ण बनाने का बीड़ा उठा रखा हो उनके लिए खेल और खिलाड़ियों का अधिकतम महत्व यही हो सकता है कि वे शासक के मलिन चेहरे को चमकदार दिखाने का साधन बने।

-- मोहित वर्मा

अमीरों की अय्यासी का अड्डा बनते हिमालयी इलाकों में तबाही

वर्ष 2021 के मानसून के मौसम में केवल दो हिमालयी राज्यों, उत्तराखण्ड और हिमाचल प्रदेश में भूस्खलन की 30 बड़ी घटनाएँ और सैकड़ों छोटी-छोटी घटनाएँ हुई हैं। जुलाई और अगस्त में हुई भूस्खलन की आठ घटनाएँ 'बेहद भयावह' श्रेणी की हैं।

इसी मौसम में ऐसा भी समय आया जब उत्तराखण्ड और हिमाचल प्रदेश में 24 घण्टों में भूस्खलन के कारण 462 सड़कें बन्द करनी पड़ी। इन दो राज्यों में भूस्खलन से 50 से ज्यादा लोगों की जान गयी और 60 से ज्यादा घायल हुए हैं। इन घटनाओं में अरबों रुपयों की सम्पत्ति नष्ट हुई है, जिसमें छोटे-बडे पुल, बिजली के खम्भे, सड़क, मकान आदि शामिल हैं। हिमालय में भूस्खलन की घटनाओं में हुई बेताहशा बढ़ोतरी आने वाली भयावह तबाही का एक गम्भीर संकेत है।

"पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के भूगोल विभाग ने हिमाचल प्रदेश की भूस्खलन की घटनाओं का अध्ययन कर बताया है कि वर्ष 1971-1979 के दौरान भूस्खलन की 164 घटनाएँ सामने आयी थी। वर्ष 1990-1999 में यह संख्या बढ़कर 214 पर पहुँच गयी और वर्ष 2000-2009 के बीच में घटनाएँ दो गुणा से भी ज्यादा बढ़कर 474 हो गयी।

बढ़ते भूमण्डलीय तापन (ग्लोबल वार्मिंग) से हिमालयी क्षेत्र की जलवायु में भी परिवर्तन आया है। जर्मनवॉच की रिपोर्ट "क्लाईमेट रिस्क इण्डेक्स 2021" में बताया गया हैं कि दुनिया में जलवायु परिवर्तन से सबसे ज्यादा प्रभावित देशों की सूची में भारत का सातवाँ स्थान है। इससे असमय होने वाली वर्षा, भयानक बाढ़ और पहाड़ों पर भूस्खलन की घटनाओं में बढ़ोतरी हुई है तथा इनके क्रम में बदलाव आया है। मानवीय गतिविधियों में कुछ बड़े कारकों को चिन्हित करके और उन पर रोक लगाकर इस तबाही से बचा जा सकता है।

हिमालय जो कुदरती तौर पर नाजुक दौर से गुजर रहा है, अब सैंकड़ों छोटे-बड़े बाँधों, चौड़ी-चौड़ी सड़कों, डायनामाइट के विस्फोटों, अन्धाधुन्ध चलती दैत्यकार जेसीबी मशीनों, लगातार बढ़ते पर्यटकों का बोझ नहीं झेल पा रहा है।

"नेशनल रजिस्टर ऑफ लार्ज डैम" के अनुसार 1970 के दशक में उत्तराखण्ड में केवल पाँच बड़े बाँध थे, जिनकी संख्या आज बढ़कर 20 से ज्यादा हो गयी है। अभी भी 11 नदियों पर 32 जलविद्युत परियोजनाओं का निमार्ण चल रहा है। बाँध निर्माण के लिए होने वाली सभी तरह की गतिविधियाँ भू-असन्तुलन और भूस्खलन जैसी बड़ी घटनाओं को जन्म देती हैं। स्थानीय लोग लम्बे समय से अपने पहाड़ों को बचाने के लिए हर सम्भव प्रयास कर रहे हैं। स्पीति घाटी के लोगों द्वारा शुरू किया गया "नो मिन्स नो" आन्दोलन आज भी जारी है, जो किन्नौर और लाहौल स्पीति जिले में चन्द्रभागा और चिनाब नदी पर बनाये जाने वाले 50 से अधिक पावर प्रोजेक्टों के खिलाफ स्थानीय लोगों द्वारा चलाया जा रहा है। दुनियाभर के प्रगतिशील वैज्ञानिक और पर्यावरण से सम्बन्धित संगठन इस आन्दोलन के समर्थक हैं और स्थानीय लोगों की आवाज में आवाज मिलाकर हिमालय में बाँधों के निर्माण पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाने की माँग कर रहे हैं।

हिमालय के बिगड़ते हालात को ठीक करने के लिए यहाँ बड़े बाँधों पर पूर्ण प्रतिबन्ध होना तथा सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा जैसे ऊर्जा के वैकल्पिक संसाधनों को बढ़ावा देना जरूरी है। हालाँकि ऊर्जा की बेताहशा बढ़ती माँग को देखते हुए यह मुमकिन नहीं लगता। वास्तव में संकटग्रस्त पूँजीवादी व्यवस्था ने ऊर्जा के बेलगाम उपभोग को बढ़ावा दिया है। स्थायी उपाय के लिए उपभोग को नियंत्रित करना लाजमी है।

पूरे हिमालय में पहले से मौजूद सड़कों के चौड़ीकरण और नयी सड़क परियोजनाओं को सरकारें पर्यावरण सम्बन्धी हिदायतों और सावधानियों की धज्जी उड़ाते हुए हद से ज्यादा बढ़ावा दे रही हैं। हिमाचल प्रदेश में 2014 में राष्ट्रीय राजमार्गों की कुल लम्बाई 2199 किलोमीटर थी जो 4 सालों (2018 तक) में तीन गुणा से ज्यादा बढ़ाकर 6954 किलोमीटर कर दी गयी। पिछले 4 सालों में सड़क परियोजनाओं के निवेश में लगभग 343 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यहाँ 42 सड़क परियोजनाओं पर अभी भी काम चल रहा है। यह तबाही को न्यौता देना नहीं तो और क्या है? आज पूरे हिमालय में दैत्याकार जेसीबी मशीनें हर कहीं नजर आती हैं ऐसा लगता है मानों जेसीबी और हिमालय के बीच में कोई युद्ध छिड़ा हुआ हो।

"उत्तराखण्ड के सांख्यिकी विभाग" ने 2018 में प्रदेश के 28 क्षेत्र चिन्हित करके यहाँ मौजमस्ती करने आने वाले देशी-विदेशी पर्यटकों की संख्या का डाटा जारी किया है। 2018 में यहाँ कुल 3.68 करोड़ पर्यटक आये। 2017 में यह संख्या 3.47 करोड़ और 2016 में 3.17 करोड़ थी। उत्तराखण्ड की कुल आबादी लगभग 1.14 करोड़ है लेकिन यहाँ हर साल कुल आबादी से लगभग 3

शेष पेज 46 पर.....

जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था, बे-मौत मरती जनता, लाभ किसका

कोरोना के बाद उत्तर प्रदेश में डेंगू, मलेरिया कहर ढा रहे हैं। गाँवों-कस्बों का ऐसा कोई मोहल्ला नहीं बचा है जहाँ बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक बुखार से पीड़ित न हो। फिरोजाबाद जिले में ही एक सप्ताह के अन्दर 150 से अधिक लोगों की जान बुखार से चली गयी जिनमें अधिकतर बच्चे हैं। फिरोजाबाद के बाद मथुरा का इससे भी बुरा हाल हुआ।

सरकार ने इलाज का कोई पुख्ता इन्तजाम कराने के बजाय उल्टे जनता को ही दोषी ठहरा दिया। सरकार ने कूलर में भरे पानी को डेंगू की सबसे बड़ी वजह बताते हुए तुरन्त ही जुर्माना वसूलना शुरू किया और लगभग 65 लोगों के विरुद्ध आवश्यक धाराओं में कार्रवाई भी कर दी। पुराने सरकारी भवनों के आस-पास की भयानक गन्दगी, बरसात के कारण सड़कों, तालाबों, नालों आदि में भरे पानी की तरफ सरकार की नजर नहीं गयी। हो सकता है कि सरकार इन्हें बीमारी का कारण नहीं मानती हो, या सरकारी डर के चलते कीचड़ भरे पानी में मच्छर पैदा ना होते हों!

उत्तर प्रदेश सरकार ने बुखार से हो रही मौतों की एक और वजह ईजाद कर ली है, शराब और माँस की दुकानें। मथुरा के 12 वार्डो में शराब और माँस की दुकानों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकार ने इन दुकानदारों को दूध का व्यापार करने की सलाह दी। शायद सरकार के पास मच्छर मारने का यही एक तरीका बचा है। हालाँकि, देश की लगभग 70 फीसदी आबादी खाने में माँस का इस्तेमाल करती है। माँस प्रोटीन का एक सस्ता और अच्छा स्रोत है। चिकित्सकों के मुताबिक डेंगू, मलेरिया जैसी बीमारियों से लड़ने के लिए प्रोटीन बहुत जरूरी है। ऐसे में माँस की दुकानों को प्रतिबन्धित करके योगी जी ने पूँजीपतियों को यह सन्देश भी दिया है कि उनके लाभ के लिए वे जनता के मुँह का निवाला भी छीन सकते हैं।

कोविड-19 महामारी के लिए तबलीगी जमात वाले दोषी ठहरा दिये गये थे और डेंगू के लिए माँस बेचने वाले। सरकार की हर नाकामी को जनता के मत्थे मढ़ देना, उसका इस्तेमाल साम्प्रदायिकता और अन्धविश्वास बढ़ाने के लिए करना अब भारत में सरकारी परम्परा बन गयी है। नफरत का माहौल बनाकर सरकार विधानसभा चुनाव-2022 को जीतने का सपना पाल रही है। पूँजीपतियों की भी पौ-बारह है, निजी अस्पताल ठसाठस भरे हैं पैथलैब के आगे लम्बी लाइनें लगी हैं, दवा कम्पनियों का माल जमकर बिक रहा है। लोगों की बीमारी और मौत राजनेताओं और पूँजीपतियों के लिए वास्तव में बहुत लाभकारी साबित हो रही है।

डेंगू भारत के लिए कोई नयी बीमारी नहीं है। दुनिया भर में डेंगू की शिकार आबादी का आधा हिस्सा अकेले भारत में मौजूद है। यहाँ हर साल 16 मई को डेंगू दिवस मनाया जाता है जो इसी बात का संकेत है कि प्रशासन समय पर सावधान हो जाये और दवा छिड़काव, फॉगिंग जैसे बचाब के कामों में जुट जाये।

दरअसल, सरकार और पूँजीपति के लिए डेंगू या कोई और संचारी रोग खतरे की चेतावनी नहीं बल्कि लाभ की आहट होती है। जनता के बचाव का इन्तजाम करने के बजाय इनको चरम तक पहुँचने का इन्तजार किया जाता है। चरम अवस्था तक पहुँचते ही मुख्य धारा का मीडिया नेताओं और सरकार की जनहितैषी छवि गढ़ने लगता है। मंत्री, मुख्यमंत्री दौरे करते हैं, कुछ मरीजों के घर शोक-संवेदना का दिखावा करने भी चले जाते हैं, इक्का दुक्का अधिकारियों के खिलाफ दिखावटी कार्रवाई की जाती है। आनन-फानन में कुछ गरीब लोगों के अच्छे अस्पताल में इलाज के वीडियों और फोटो जारी किये जाते हैं। कुल मिलाकर बच्चों की मौत, बीमारी एक उत्सव में बदल जाती है, उत्तर प्रदेश में यही हुआ है। रेटिंग एजेंसियों के अनुसार डेंगू से बच्चों की मौत के बाद सरकार की छवि में कुछ सुधार हुआ है।

सरकारी अस्पताल जो केवल गिनती के हैं उनमें मरीज खचाखच भरे हुए हैं। इसमें से अधिकतर की हालत ऐसी नहीं है कि उनमें बुखार का भी इलाज हो सके। नतीजतन निजी अस्पतालों में मरीजों की भरमार है जो पूरी तरह उद्योग में तब्दील हो गये हैं और जनता के दुख दर्द पर फल-फूल रहे हैं। एनओएस की एक रिपोर्ट के मुताबिक निजी अस्पतालों में इलाज सरकारी अस्पतालों से सात गुना महँगा है। एक सर्वे के मुताबिक केवल स्वास्थ्य लागत बढ़ने से हर साल लगभग 6.3 करोड़ लोग गरीबी रेखा से नीचे चले जाते हैं। इसी आँकड़े पर भरोसा करके उत्तर प्रदेश सरकार पूँजीपतियों को मालामाल और जनता को कंगाल करने का अभियान चला रही है। सरकारी अस्पतालों की बदहाली बाकी पूँजीपतियों को भी फायदा पहुँचाती है। निजी डॉक्टरों, दवा कम्पनियों, लैब मालिकों को भरपूर लाभ होता है। इसके अलावा, जरा सोचिये, बच्चा बीमार होने पर गरीब आदमी सूदखोर से कर्ज भी लेगा और कम से कम दाम पर मजदूरी करने को भी मजबूर होगा, दोनों ही हालत में पूँजीपतियों का फायदा है।

हमारे देश में बहुत नाकाफी ही सही लेकिन एक सार्वजनिक

स्वास्थ्य प्रणाली मौजूद थी, जो देश के लगभग 70 प्रतिशत बीमारों का इलाज करती थी, 30 प्रतिशत बीमारों का इलाज निजी अस्पतालों और डॉक्टरों के जरिये होता था। जब हमारे शासकों ने निजीकरण की नीतियों को स्वीकार कर लिया तो सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली निजी अस्पतालों, डॉक्टरों, दवा कम्पनियों के मुनाफे की राह का रोड़ा बनने लगी। सैकड़ों तरह के छल-प्रपंचों से इस प्रणाली को तबाह किया गया। आज यह मरणासन्न है। आज 70 प्रतिशत बीमार निजी अस्पतालों और चिकित्सकों से इलाज करवाने को मजबूर हैं। साल 2010 तक प्रति दस हजार व्यक्तियों पर सरकारी अस्पतालों में 9 बेड मौजूद थे आज इनकी संख्या घटकर पाँच रह गयी है।

हाल ही में उत्तर प्रदेश सरकार ने प्रदेश के लगभग 16 जिलों के मुख्य अस्पतालों को 1 रुपया सालाना के हिसाब से 33 वर्षों के लिए निजी हाथों में सौंप दिया है। जनता के खून पसीने की कमाई से खड़े किये गये सार्वजनिक अस्पतालों को निजी पूंजीपतियों के हवाले करने की ऐसी मिसाल दुनिया में कहीं और नहीं मिलेगी। जो सरकार जनता की जान की कीमत पर पूँजीपतियों के मुनाफे की गारन्टी करती हो वह डेंगू, मलेरिया की रोकथाम के लिए कोई इन्तजाम करेगी, उससे यह उम्मीद नहीं की जा सकती।

बेहतर इलाज का इन्तजाम करने के बजाय राजनेता लगातार जनता के बीच अवैज्ञानिकता, अन्धविश्वास और कूपमण्डूकता फैलाते हैं। मुख्यधारा का मीडिया भी जनता को शासकों की मक्कारियों से रूबरू कराने के बजाय उनके कुकर्मों को छिपाने और उनकी छवि चमकाने का ठेका लिए हुए है। रॉयटर्स इंस्टीट्यूट फॉर द स्टडी ऑफ जर्नलिज्म ने अपनी न्यूज रिपोर्ट-2021 में कहा है कि भारत में मीडिया का बड़ा हिस्सा निगमों और राजनीतिक पार्टियों द्वारा नियंत्रित है और निजी संस्थाओं के पैसे से चलता है। 392 चैनल सत्तारूढ पार्टी की विचारधारा से संचालित होते हैं।

आइसीएमआर देश के चिकित्सा क्षेत्र का लेखा जोखा रखने वाली संस्था है। इसकी रिपोर्ट के मुताबिक डेंगू, मलेरिया कोई नयी समस्या नहीं है। यह बरसात के बाद हर साल आते हैं। हर तीन साल बाद इनमें उछाल आता है। इसके बारे में उत्तर प्रदेश सरकार को जानकारी थी लेकिन उसने न तो किसी भी तरह की कोई पूर्व चेतावनी जारी की और ना ही इनके रोकथाम का कोई इन्तजाम किया। डेंगू, मलेरिया को दवा छिड़काव, फॉगिंग और जल निकासी जैसे साधारण इन्तजाम करके ही काफी हद तक नियंत्रित किया जा सकता था लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार ने इसे खूब बढ़ने दिया। स्थिति विस्फोटक होने पर मीडिया के तूफानी प्रचार के दम पर सत्ताधारी पार्टी ने इसे अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया और निजी अस्पतालों, दवाई कम्पनियों, पैथोलॉजी लैब आदि को मुनाफा कमाने का भरपूर मौका दिया।

दूसरी ओर सैकड़ों परिवारों में बच्चों की लाशें आयीं और पहले से ही आर्थिक संकट झेल रहे लाखों परिवार नये कर्ज में डूब गये जो उनकी मौत के बाद भी खत्म नहीं होगा। इस व्यवस्था का निर्माण ही उन्होंने इस तरह किया है कि यह अपनी अन्तिम साँस तक हमारी और हमारे बच्चों की जानें लेती रहेगी। जनता की तबाही इस व्यवस्था की अनिवार्य बुराई बन चुकी है और इस बुरी व्यवस्था का समूलनाश जनता के जीवन की अनिवार्य शर्त बन गयी है।

-- विकास 'अदम'

पेज 44 का शेष.....

गुणा अधिक पर्यटक पहुँच जाते हैं। हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि इसका नतीजा उत्तराखण्ड की तबाही के अलावा कुछ और नहीं हो सकता।

सरकार कहती है कि अधिक पर्यटकों से स्थानीय लोगों को फायदा होगा लेकिन यह सच नहीं है। असली फायदा तो छोटे-बड़े होटलों और रिजॉर्ट्स के मुट्ठी भर मालिक उठाते हैं जबकि ज्यादातर तबाही भयावह गरीबी की शिकार आम जनता के हिस्से आती है। उत्तराखण्ड की आम जनता इस बेलगाम पर्यटन का भारी विरोध कर रही है। चार धाम की धार्मिक यात्रा के नाम पर सरकार द्वारा किये जा रहे सड़कों के चौड़ीकरण का हर जगह विरोध हो रहा है। थोड़ें से लोगों के मुनाफे के लिए पूरे प्रदेश को तबाह करना विकास का नहीं विनाश का मॉडल है। भूटान एक गरीब देश है। उसकी सालाना आय का 70 फीसदी पर्यटन से आता है। इसके बावजूद भूटान सरकार पर्यटकों की संख्या को नियंत्रित करती है। इसके वाबजूद जीवन प्रत्यासा और प्राकृतिक संरक्षण दोनों मामले में भूटान भारत से बहुत बेहतर स्थिति में है।

हिमालय की यह तबाही प्राकृतिक संसाधनों को लूटकर सिक्कों में बदलने का परिणाम है। मुनाफे की इस हवस ने भारत को 'क्लाईमेट एमरजेंसी' के दौर में लाकर खड़ा कर दिया है। हिमालय, जो अभी अपनी जवानी की तरफ बढ़ रहा है उस पर मुनाफे की हवस पूरा करने के लिए किया जा रहा अत्याचार बाल नरसंहार जैसा है। अगर हिमालय तबाह हुआ तो यह लाजिम है कि हमारी आने वाली नस्लें भी तबाही की भेंट चढ़ जायेंगी।

--आशु शमशेर

बिना आँकड़ों के क्या हिसाब लगाये और क्या हिसाब दें?

आज के दौर में 'डाटा माइनिंग' किसी संस्था के सबसे महत्वपूर्ण कामों में से एक है। जिसका मतलब है-- आँकड़े इकट्ठा करना और उनकी छानबीन करके कुछ निष्कर्ष निकालना। छोटे स्तर से लेकर बड़े स्तर तक की योजनाएँ बनाने या किसी क्षेत्र विशेष में शोध करने या किसी घटना की सही जानकारी हासिल करने में इसका बहुत महत्व है। आधुनिक तकनीक ने इस काम को बहुत आसान बना दिया है। हमारी सरकार का जोर डाटा माइनिंग के सकारात्मक इस्तेमाल के बजाय इसके नकारात्मक इस्तेमाल पर है। सरकार आधुनिक तकनीकों से अपने नागरिकों पर नजर रखती है और उनकी निजी जानकारी चुराती है। अपनी बारी आने पर सरकार तमाम तरह के आँकड़े छिपाने की कोशिश करती है और अक्सर यह कहकर पल्ला झाड़ लेती है कि हमारे पास आँकड़े नहीं हैं।

सरकार का कहना है कि कोरोना से देश में केवल 3.5 लाख मौत हुई हैं और उसमें ऑक्सीजन की कमी से कोई मौत नहीं हुई। जबकि मुराद बनर्जी और आशीष गुप्ता की द हिन्दू अखबार में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में कोरोना से लगभग 28 लाख मौतें हुई हैं। यह संख्या सरकार द्वारा दी गयी संख्या से 8 गुणा अधिक है। सरकार ने आज तक इस आँकड़े का कोई तार्किक खण्डन पेश नहीं किया है।

मृतकों के अन्तिम संस्कार के आँकड़े पर आधारित दैनिक भास्कर की रिपोर्ट, जिसे दुनिया के जाने-माने अखबारों और न्यूज एजेन्सियों ने भी स्वीकार किया है, बताती है कि भारत में कोरोना से लगभग 42 लाख मौतें हुई हैं। यह संख्या सरकारी संख्या से लगभग 12 गुना अधिक है। सरकार ने आज तक इसका भी कोई तार्किक खण्डन जारी नहीं किया।

डब्लूएचओ के अनुसार भारत में लगभग 70 प्रतिशत लोग कोरोना का शिकार हुए। दुनिया में कोरोना से संक्रमण और मौत के अनुपात के आधार पर भारत में मरने वालों की संख्या 40 लाख तक हो सकती है। दुनिया के पास भारत के आँकड़े हैं लेकिन भारत सरकार के पास कोई सटीक आँकड़ा नहीं है। यानी भारत की जनता कभी नहीं जान पायेगी कि उनके देश के कितने लोग कोरोना की भेंट चढ गये, इनमें कितने स्वास्थ्य ढाँचे की कमी और कितने संक्रमण की गम्भीरता से मरे। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि सभी आँकड़ों की गैर मौजूदगी में न तो भविष्य में महामारी सम्बन्धी शोध सही दिशा में जा पायेंगे और ना ही महामारी से लड़ने की कोई सटीक योजना बन पायेगी।

सितम्बर 2020 में जब सरकार से पूछा गया कि कोरोना महामारी के दौरान अग्रिम पंक्ति के कितने कर्मचारी मारे गये, तब स्वास्थ्य मंत्री ने कहा कि उनके पास कोई आँकड़ा नहीं है। 24 मार्च 2020 के अचानक किये गये पहले लाकडाउन के बाद सारी दुनिया ने देखा कि किस तरह प्रवासी मजदूरों के अन्तहीन रेले पैदल ही अपने गाँव जा रहे थे। अप्रैल 2020 में वर्ल्ड बैंक ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि भारत में 40 करोड़ प्रवासियों की रोजी-रोटी इससे प्रभावित होगी। इसके बारे में भी भारत सरकार ने वही रटा रटाया जबाव दिया कि कोई आँकड़ा नहीं है।

प्रभावितों की संख्या के बारे में जानकारी ना होने पर उनकी मदद करने की जिम्मेदारी से भी सरकार का पिण्ड छूट गया। भारत से कहीं बेहतर काम एक पड़ोसी देश की सरकार ने किया। उसने देश भर के नियोक्ताओं से उनके यहाँ कार्यरत मजदूरों की सूची और उनकी बैंक खाता संख्या जुटायी और सबके खातों में एक मुश्त रकम डाल दी। यह बहुत आसान काम था भारत सरकार भी कर सकती थी।

दूसरी लहर में उत्तर प्रदेश में पंचायत ड्यूटी के दौरान कोरोना संक्रमण से मरने वाले अध्यापकों का शिक्षक संघ के पास सही आँकड़ा था लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार के पास कोई सटीक आँकड़ा नहीं था। उत्तर प्रदेश सरकार और चुनाव आयोग दोनों ही इस मामले में मृतक अध्यापकों को उचित अनुकम्पा राशि देने से बच गये।

ऑक्सीजन की कमी से होने वाली मौतों को नकारना तो और भी बेशर्मी भरी हरकत है। कोरोना की पहली लहर में ही चिकित्सकीय ऑक्सीजन की कमी सामने आयी थी। इसके समाधान के लिए सरकार ने एक कमेटी गठित की थी और 150 से ज्यादा नये ऑक्सीजन प्लाण्ट लगाने का बजट भी जारी किया था। दूसरी लहर शुरू होने से पहले तक इनमें से शायद ही कोई ऑक्सीजन प्लाण्ट चालू हुआ हो। दूसरी लहर के दौरान कन्धों पर ऑक्सीजन सिलेण्डर लेकर दौड़ते और उसके लिए लम्बी-लम्बी लाइनें लगाते परिजनों की तस्वीरें महीनों तक सभी समचार माध्यमों तक छायी रही। ऑक्सीजन का संकट इतना भयावह था कि इसके लिए राज्यों और केन्द्र की सरकारों के बीच खूब झगड़े हुए और मामला सर्वोच्च न्यायलय तक भी पहुँचा। इसके बावजूद सरकार का यह दावा कि ऑक्सीजन की कमी से कोई मौत नहीं हुई, हद दर्जे की बेशर्मी नहीं तो और क्या है।

मसला सरकार के पास आँकड़ों के न होने तक ही सीमित नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएस) द्वारा 2017-2018 के दौरान किये गये उपभोक्ता खर्च की सर्वे रिपोर्ट लोकसभा चुनाव-2019 से पहले आनी थी। उसे नवम्बर 2019 में यह

कहकर रोक दिया गया कि आँकड़ों की गुणवत्ता में कमी है। संस्थान ने आँकड़ों की गुणवत्ता सही होने का दावा किया तो अधिकारियों के दफ्तरों पर ताले जड़ दिये गये। रिपोर्ट के लीक हो जाने से पता चला कि उपभोक्ता खर्च में ऐतिहासिक गिरावट आयी है, यानी जनता की गरीबी में ऐतिहासिक बढ़ोतरी हुई है। इस तथ्य से सरकार को चुनाव में नुकसान हो सकता था। इसलिए आँकड़े छिपाये गये।

हाथ से नाले और सीवर साफ करने वाले मजदूरों की मौत की खबरें अक्सर अखबारों में छपती रहती हैं। इसके बारे में भी सरकार का कहना है कि उनके पास कोई आँकड़ा नहीं है। मुद्दा वही है, अगर आँकड़े जारी होंगे तो मृत मजदूरों के परिवारों की मदद की माँग जोर पकड़ेगी, साथ ही नाले और सीवर की सफाई के दौरान मजदूरों की सुरक्षा के लिए नियमावली बनानी पड़ेगी। इस तरह की नियमावली से निश्चय ही मजदूर ठेकेदारों और नियोक्ताओं का खर्च बढ़ेगा। इसके अलावा महाशक्ति और विश्वगुरू के फर्जी दावों तथा इन्हें गढ़ने वाले शासकों की पोल खुलेगी।

किसान आन्दोलन के दौरान हुई किसानों की मौत का भी सरकार के पास कोई आँकड़ा नहीं है। यह बेहद हास्यास्पद है। किसानों ने शहीद हुए अपने हर साथी की सम्पूर्ण जानकारी सुरक्षित रखी है। सरकार जब चाहे उनसे माँग सकती है, लेकिन इसके लिए सरकार को मौजूदा किसान आन्दोलन को किसानों का ही आन्दोलन स्वीकार करना पड़ेगा जिसे अब तक वह आतंकवादियों और लम्पटों का आन्दोलन कहती आयी है।

इण्टरनेट बन्द करने के मामले में भारत सरकार दुनिया में सबसे आगे है। देश के किसी न किसी हिस्से में हर रोज इण्टरनेट पर पाबन्दी रहती है। कश्मीर में तो यह लगभग दो साल से जारी है। इस पाबन्दी से हुए आर्थिक नुकसान के बारे में भी सरकार के पास कोई आँकड़ा नहीं है।

यह मात्र कुछ घटनाओं के उदाहरण हैं। पिछले सात सालों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जाएँगे जब सरकार ने आँकड़े होने से इन्कार कर दिया या हेराफेरी करके झूठे आँकड़े दिये।

ऐसा नहीं है कि सरकार के पास आँकड़े नहीं हैं। उसके पास काफी आँकड़े हैं और अगर कोई कमी है तो उसके पास ऐसा तंत्र मौजूद है कि बहुत आसानी से उस आँकड़े को जुटा सकती है। अगर सरकार अपने नागरिकों के खाने, ओढ़ने-पहनने, आने-जाने, बात करने तक की निजी जानकारियाँ हासिल कर सकती है तो वह अपने ही शासन-प्रसाशन और व्यवस्था सम्बन्धित आँकड़े क्यों हासिल नहीं कर सकती। दरअसल, सरकार आँकड़ों के महत्व को भलीभाँति समझती है। सरकार यह भी समझती है कि अपने बारे में सही जानकारी देना विरोधियों के हाथों में हथियार दे देने के समान है। यह समझना बहुत आसान है कि सरकार आँकड़ों से इनकार करके या गलत आँकड़े देकर बहुत सी असुविधाजनक सवालों से बच जाती है।

आँकड़े न होने के बहाने से केन्द्र सरकार सत्ता के दूसरे केन्द्रों (जैसे राज्य सरकारों) का हक भी आसानी से मार लेती है। पिछले 5 सालों में करों में राज्यों की हिस्सेदारी में इतनी गिरावट पहले कभी नहीं रही। ऐसे में केन्द्र की सत्ता के शीर्ष पर बैठे एक व्यक्ति के जरिये ही तमाम तरह की छोटी-मोटी लोकलुभावन घोषणाओं से नागरिकों को लुभाने की सुविधा हासिल हो जाती है और नाकामियों का सारा बोझ राज्य सरकारों पर डाल दिया जाता है। इससे सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष में माहौल बनता है। वास्तव में सत्ता का केन्द्रीकरण संविधान की मूलभावना के खिलाफ है बल्कि संविधान सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात कहता है।

आँकड़े जाहिर न करने का एक बड़ा फायदा यह है कि आप कोई भी कहानी गढ़ सकते हैं। इस तरह की झूठी कहानियाँ गढ़कर ही 2013 में गुजरात मॉडल को एक आर्दश मॉडल और उसके तत्कालीन मुख्यमंत्री मोदी को एक आर्दश शासक के रूप में पेश किया गया। तब से आज तक यही खेल चल रहा है। एक सर्वाधिक असफल शासन प्रणाली और उसके सर्वाधिक असफल मुखिया को सफलता के आर्दश के रूप में पेश किया जा रहा है।

जानकारी एक ताकत है और जानकारी न होना एक कमजोरी। जनता और सरकार के बीच जानकारी का यह अन्तर बहुत बड़ा हो चुका है और बढ़ता ही जा रहा है। शासक नागरिकों की तमाम निजी जानकारियाँ चुराते हैं और अपने बारे में हर जानकारी गुप्त रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एनएसए जैसी संस्था में काम करने वाले एडवर्ड जॉसेफ स्नोडेन ने बताया था कि कैसे जनता की हर एक हरकत पर नजर रखी जाती है और शासकों की हर जानकारी जनता की पहुँच से दूर रखी जाती है।

शासन-प्रसाशन या व्यवस्था से सम्बन्धित कोई भी जानकारी हासिल करना किसी भी लोकतन्त्रिक देश के नागरिकों का मूलभूत अधिकार होता है। अपने बारे में अपनों को जानकारी देना एक सामान्य व्यवहार है, इतना ही सामान्य व्यवहार यह भी है कि सुरक्षा से जुड़ी दुश्मन की जानकारी चुरायी जाती है और इस बारे में दुश्मन को कोई सही जानकारी नहीं दी जाती। उससे जानकारी छिपायी जाती है। लेकिन हमारे देश की सरकार तो अपनी जनता से ही सामान्य और जरूरी जानकारी छिपा रही है, तो क्या सरकार के व्यवहार से यह माना जाये कि आज सरकार और जनता के बीच दुश्मनी से भी बदतर रिश्ता बन गया है।

-- सनी तोमर

राजा महेन्द्रप्रताप के नाम पर अपने हित साधती बीजेपी

हाल ही में उत्तर प्रदेश दौरे के समय प्रधानमंत्री मोदी ने अलीगढ़ में राजा महेन्द्र प्रताप के नाम पर बनने जा रहे विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया। इस दौरान उन्होंने भाषण भी दिया जिसमें उनका क्रान्तिकारियों के प्रति प्रेम उमड़ रहा था। उन्होंने कहा कि राजा महेन्द्रप्रताप को पिछली सरकार ने कोई सम्मान नहीं दिया इसलिए वह उन्हें सम्मानित कर रहे हैं। किसी क्रान्तिकारी के बारे में शायद पहली बार देश के किसी प्रधानमंत्री ने इतने बेबाक तरीके से झूठ बोला हो। जबकि सच यह है कि राजा महेन्द्र प्रताप के सम्मान में डाक टिकट जारी गये थे, भारत के हर बोर्ड और विश्वविद्यालय में उनके बारे में पढ़ाया जाता रहा है। ये बातें प्रधानमंत्री जानते नहीं या जानकर अनजान बनने का नाटक कर रहे थे।

झूठ का यह सिलसिला यही नहीं रुका बल्कि प्रधानमंत्री के भाषण के बाद यह और तेजी से फैलने लगा। मुख्यधारा की मीडिया में हर तरफ उन्हें जाट नेता के तौर पर प्रचारित किया जाने लगा। वहीं दूसरी ओर बीजेपी आईटी सेल से राजा महेन्द्र प्रताप को लेकर झूठी खबरों की बाढ़ आने लगी। व्हाट्सअप्प, फेसबुक पर उन्हें तेजी से फैलाया जाने लगा। इनमें इतना खुलेआम झूठ बोला गया कि राजा महेन्द्र प्रताप आरएसएस से जुड़े हुए थे और उन्होंने हिन्दू राष्ट्र का समर्थन किया था, तो यह झूठी खबर भी फैलायी जाने लगी कि अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी (एएमयू) की स्थापना राजा महेन्द्र प्रताप ने की थी। बीजेपी के बड़े-बड़े नेता भी इन झूठ को दौहराने में एक-दूसरे को पछाड़ने लगे। पिछले समय से बीजेपी और आरएसएस ने देश के साम्प्रदायीकरण और अपनी चुनावी रोटी सेंकने के लिए इतिहास को जिस तरह विकृत किया है वह भारतीय समाज के लिए बेहद खतरनाक है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि देश की आजादी में अपना घर-बार छोड़ देनेवाले क्रान्तिकारियों की सही तस्वीर लोगों के बीच लाकर बीजेपी के झूठ का भण्डाफोड़ किया जाये।

राजा महेन्द्र प्रताप का जन्म 1886 में हाथरस जिले के मुरसान क्षेत्र के राजघराने में हुआ था। तीन वर्ष की उम्र में इन्हें राजा हरनारायण ने गोद ले लिया था जिसके बाद वह राजगद्दी के वारिस बन गये थे। उन्होंने अपनी पढ़ाई एएमयू से पूरी की। पढ़ाई के दौरान वे दादा भाई नैरोजी, बिपिन चन्द्र पाल आदि के भाषणों से प्रभावित होकर स्वदेशी आन्दोलन से जुड़ गये। उनके सामने भी तमाम राजाओं की तरह अंग्रेजों से साँठ-गाँठ करके विलासिता भरी जिन्दगी जीने का मौका था, लेकिन उन्होंने ऐसी जिन्दगी जीने से इनकार कर दिया। देश में चल रहे स्वतंत्रता के आन्दोलन में वह सक्रिय भागीदारी करने लगे थे। इसी कारण उन्होंने 1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में हिस्सा लिया। लेकिन लम्बे समय तक वह कांग्रेस में नहीं रह सके। उनका रास्ता कुछ और ही था। पहले विश्व युद्ध के दौरान वह भारत की आजादी के लिए दूसरे देशों की मदद लेने का प्रयास करने लगे। बाद में वह अफगानिस्तान चले गये, जहाँ उन्होंने भारत की पहली निर्वासित सरकार बनाने का ऐलान किया। गाँधीजी ने भी अनेक पत्रों के जरिये उनके कार्य को सराहा था। उसी दौरान उन्हें दूसरे देशों में भी घूमने का मौका मिला। करीब 32 साल वह देश से बाहर रहे और हमेशा देश को आजाद कराने का प्रयास करते रहे। 1946 में वह भारत लौटे लेकिन किसी पार्टी से नहीं जुड़े। वह शिक्षा सम्बन्धित कार्यों से जुड़े रहे। उन्होंने अपने महल के एक हिस्से में गरीब बच्चों के लिए स्कूल भी खोला। 1957 के आम चुनाव में वह मथुरा से निर्दलीय सीट पर चुनाव में खड़े हुए। इसी चुनाव में उन्होंने अटल बिहारी वाजपेयी और कांग्रेस के एक बड़े नेता को भारी अन्तर से हराया।

देश की आजादी की लड़ाई में भागीदारी करते हुए अनेक देशों के भ्रमण के दौरान उनके विचार अधिक व्यापक और दृढ़ हो रहे थे। रूसी क्रान्ति से वह काफी प्रभावित थे। अपने देश में भी वह इसी सपने को साकार करने के लिए तत्पर थे। इसीलिए वह रूस जाकर वहाँ के नेता लेनिन से भी मिले थे। रूस की क्रान्ति ने पूरी दुनिया में एक नयी रौशनी पैदा की थी। उसी रौशनी में राजा महेन्द्र प्रताप के विचारों ने भी आकार लिया। जनता की एकता को तोड़कर विदेशी और देशी लुटेरों को फायदा पहुँचाने वाली धर्म और जाति पर आधारित राजनीति से वे घृणा करते थे। उन्होंने कहा था कि सारे धर्मों की जगह केवल प्रेम का धर्म होना चाहिए जिसमें नफरत के लिए कोई जगह न हो।

जिन विचारों के खिलाफ वह जिन्दगी भर लड़ते रहे, आज उन्हीं विचारों को माननेवाले लोग उनका झूठा गुणगान करते हुए उनकी असली छवि को धूमिल करना चाह रहे हैं। यहाँ सवाल यह

उठता है कि बीजेपी सरकार उन्हें इतनी बेसब्री से क्यों याद कर रही है। इसका एक जवाब हमें मुजफ्फरनगर से साँसद और केन्द्र सरकार में राज्य मंत्री संजीव बालियान के वक्तव्य से मिल सकता है जो उन्होंने शिलान्यास के बाद दिया। उन्होंने कहा कि, "पिछली सरकार ने जाट समुदाय के इतने महान नेता के योगदान को याद नहीं रखा..."। दरअसल, यह पूरा मामला पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाट वोटों को लेकर है। इस क्षेत्र में जाट समुदाय के वोट निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। 2012 के चुनाव में बीजेपी को जाटों के महज 7 फीसदी वोट मिले थे। मुजफ्फरनगर और आस-पास के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम दंगों में एक तरफ मेहनतकश आबादी बर्बाद हुई तो वहीं 2014 के लोकसभा चुनाव में इसका फायदा बीजेपी को मिला। इस चुनाव में बीजेपी को जाटों के 77 फीसदी वोट मिले, जो 2019 तक 91 फीसदी हो गये थे। लेकिन 2020 में बीजेपी सरकार ने जबसे तीन काले कृषि कानूनों को पास किया, उसके विरोध में किसान आन्दोलन के चलते उसके इस वोट बैंक में कमी आने की पूरी सम्भावना जतायी जा रही है। आने वाले चुनावों में इनका वोट हासिल करने के लिए अब राजा महेन्द्र प्रताप के नाम का इस्तेमाल किया जा रहा है। उन्हें एक जाट नेता घोषित कर जाटों की सहानुभूति हासिल करने की कोशिश की जा रही है।

इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए बीजेपी आईटी सेल ने तरह-तरह के झूठ फैलाकर लोगों को गुमराह करने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि एएमयू की स्थापना करने वाले हिन्दू थे जिसमें सबसे बड़ा योगदान राजा महेन्द्रप्रताप का था और एएमयू ने उन्हें इस बात का कभी सम्मान नहीं दिया। यह झूठ बीजेपी लम्बे समय से फैला रही है ताकि इस बहाने पूरे क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ा जा सके। इन्होंने एक कट्टर विचारधारा पर आधारित एक संगठन का वहाँ निर्माण कराया जो समय-समय पर यह मुद्दे उठाकर जनता की एकता तोड़ सकें। बल्कि सच इनकी बातों से कोसों दूर है। एएमयू की स्थापना 1875 में हुई थी जबकि राजा महेन्द्र प्रताप का जन्म 1886 में हुआ था। राजा ने केवल 3 एकड़ जमीन 90 साल के लिए लीज पर दी थी। एएमयू की स्थापना के लिए करीब 50 हजार लोगों ने चन्दा दिया था जिसमें बड़ी धनराशी मुस्लिम शासकों ने दी थी। यह बात भी झूठ है कि एएमयू ने राजा महेन्द्र प्रताप को कभी सम्मान नहीं दिया बल्कि एएमयू के केन्द्रीय पुस्तकालय में उनकी तस्वीर आज भी लगी हुई है। साथ ही एएमयू की 100वीं वर्षगाठ पर बतौर मेहमान राजा महेन्द्र प्रताप वहाँ उपस्थित थे। अपने फायदे के लिए इन्होंने राजा महेन्द्र प्रताप की पूरी विचारधारा को भी धूमिल कर यहाँ तक प्रचारित कर दिया कि वह आरएसएस से जुड़े हुए थे और उन्होंने हिन्दू राष्ट्र का समर्थन किया था। राजा महेन्द्र प्रताप प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष विचारों से प्रभावित थे और उसके पक्के समर्थक थे। दूसरी ओर, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक विचारधारा वाली आरएसएस। ये एक दूसरे के धुर विरोधी हैं, फिर भी बीजेपी इतना बड़ा झूठ बोलने से नहीं हिचकी। 1915 में जब राजा महेन्द्र प्रताप ने अफगानिस्तान में भारत की पहली निर्वासित सरकार बनायी तो उसमें उन्होंने प्रधानमंत्री बरकतुल्लाह साहब को और गृहमंत्री मौलवी उबेदुल्लाह साहब को बनाया था, ऐसे में वह हिन्दू राष्ट्र का समर्थन कैसे कर सकते थे?

सच्चाई यह है कि बीजेपी के पास अपनी विचारधारा से जुड़ा कोई ऐसा जन नेता भी नहीं है जिसके नाम पर वह खुलकर वोट माँग सके। इनकी राजनीति नफरत पर आधारित रही है। इनकी विचारधारा से जुड़े नेताओं और बाबाओं के हर रोज नये राज खुलते हैं। अधिकतर बलात्कार, हत्या, घुसखोरी और सम्प्रदायिकता फैलाने के दोषी पाये गये हैं। कुछ जेल में बन्द हैं। एक तरफ तो विदेशों में जाकर प्रधानमंत्री अपना परिचय गाँधी जी के देश से आने वाले के तौर पर देते है तो वहीं उनके मंत्री गाँधी जी को मारने वाले गोडसे की प्रतिमा लगा कर मंदिर खोलने की कोशिश कर रहे हैं। यह अवसरवाद जैसी घिनौनी विचारधारा नहीं तो और क्या है?

आज यह बात जगजाहिर है कि इनकी विचारधारा का कोई एक भी ऐसा नेता नहीं जिसने देश की आजादी में अपना सकारात्मक योगदान दिया हो। यह तब भी जनता की असली लड़ाई से उसका ध्यान भटकाकर अंग्रेजों का साथ दे रहे थे और आज भी यह वही काम और अधिक शातिराना तरीके से कर रहे हैं। यह पूँजीपतियों-साम्राज्यवादियों के हितों को पूरा करने के लिए तीन कृषि कानून ले आये हैं और इसके लिए देश की जनता को कुचलने पर आतुर हैं और उनके विरोध को कमजोर करने के लिए लगातार उनकी एकता को तोड़ने का काम कर रहे हैं। इतिहास की विकृत व्याख्या करके वे समय के पहिये को पीछे धकेलना चाह रहे हैं। आज सभी प्रगतिशील और इनसाफपसन्द लोगों की यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी बनती है कि वे जनता का सच्चा इतिहास उनके बीच लेकर जायें और जनता को जागरूक करें।

-- मोहित पुण्डिर

लेखक संगठन आखिर आत्मालोचना से क्यों डरते हैं?

-- शैलेन्द्र चौहान

गत दो-तीन दशकों में वाम लेखक संगठनों का प्रभाव क्षीण हुआ है। उनमें कई तरह के विचलन, विभ्रम और विरूपताएँ देखने को मिल रही हैं। गत दिनों भाजपा मनोनीत एक राज्यपाल की जीवनी का सम्पादन राज्य के दो वरिष्ठ प्रगतिशील लेखकों द्वारा किया जाना इसका एक सामयिक उदाहरण है। इन लेखकों के इस कृत्य के बारे में न प्रलेस राज्य संगठन ने कोई प्रतिक्रिया या स्पष्टीकरण दिया न ही राष्ट्रीय संगठन ने। उनपर अनुशासनात्मक कार्रवाई करना तो दूर की बात है। विडम्बना यह है कि जब ये लेखक संगठन अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रहे हैं तब ये अपनी कमजोरियों को अपने मौन से व्याख्यायित कर रहे हैं। ऐसे में नैतिकता की बात करना वाकई कष्टदायक है।

वाम लेखक संगठनों का एक गौरवपूर्ण इतिहास है जिसे समझना सम्प्रति आवश्यक भी है और उचित भी है। प्रगतिशील लेखक संघ के जन्म के पाँच साल में ही देश की हर भाषा में यह आन्दोलन अपनी जड़ें जमा चुका था। प्रत्येक भाषा के बड़े रचनाकार इस आन्दोलन के साथ थे। बड़ी दिलचस्प बात है कि इसके स्थापना सम्मेलन के समय अधिकांश उर्दू के विद्वान थे तथा हिन्दी के कुछ ही लेखक थे। इनमें बडे नाम प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के थे। उस समय के नौजवान रचनाकार रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन आदि भी शामिल थे लेकिन बड़ी संख्या उर्दू लेखकों की ही थी, जो प्रगतिशील आन्दोलन में प्राण फूँकने में लगे थे। उर्दू लेखकों में सज्जाद जहीर, डॉ. रशीद जहाँ, डॉ. अब्दुल अलीम, मजाज, फैज अहमद फैज, फिराक गोरखपुरी, मौलाना हसरत मोहानी, सागर निजामी, महमूदुज्जफर, चौधरी मौहम्मद अली रुदौलवी आदि सुप्रसिद्ध रहे हैं। और भी बहुत से नौजवान रचनाकार इसमें सक्रिय थे जो आगे चलकर बड़े लेखक हुए। साथ ही प्रगतिशील आन्दोलन के आधार स्तम्भ भी बने।

देश को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना और साधारण लोगों के लिए आजादी का महत्त्व बताना इस आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य थे, लेकिन एक ऐसा वर्ग था जो जमींदारों और पूँजीपतियों से मुक्ति चाहता था इनमें से अधिकांश मार्क्सवाद से प्रभावित थे। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें ऊँच-नीच का भेदभाव न हो। शोषण आधारित व्यक्तिगत सम्पत्ति इकट्ठी करने का अधिकार न हो। महिलाओं और दलितों को समान अधिकार दिलाने की बात की गयी।

जिन चार लोगों ने सम्मेलन के आयोजन में सबसे बड़ी भूमिका निभाई उनमें बन्ने भाई के अलावा डॉ. रशीद जहाँ, डॉ. अब्दुल अलीम तथा महमूदुज्जफर शामिल थे। बन्ने भाई और रशीद जहाँ की भूमिका की उनके शताब्दी वर्ष में काफी चर्चा हुई। किन्तु डॉ. अब्दुल अलीम के योगदान को प्रमुखता से रेखांकित नही किया गया। मुंशी प्रेमचन्द की भी इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका थी प्रेमचन्द तो सबके प्रेरणास्रोत थे। जिस आशा और विश्वास के साथ वे अपना किराया लगाकार सज्जाद जहीर के घर पहुँच गये तथा बिना औपचारिकताओं के बेतकल्लुफ होकर मिले इससे सभी अभिभूत हैं। उन्हें शरद बाबू ने उपन्यास सम्राट की उपाधि दी थी। उनका इस सादगी से आना तथा प्रगतिशील लेखकों और साहित्य की परिभाषा को व्याख्यायित करते हुए उसे जनता से जोड़ना एक नये आन्दोलन को जन्म देना था। प्रेमचन्द ने सबसे पहले यह कहा कि सच्चे साहित्य की नींव मानवीय सौन्दर्य आजादी और मानवीय जज्बों पर आधारित होनी चाहिए। मौलाना हसरत मुहानी की तकरीर ने भी प्रगतिशील आन्दोलन के स्वरूप के नये अन्दाज को पेश किया। उन्होंने कहा कि हमारे साहित्य का राष्ट्रीय मुक्ति का स्वर बनना चाहिए। उसे साम्राज्यवादियों तथा अत्याचारी अमीरों का प्रतिरोध करना चाहिए। उसे मजदूरों, किसानों तथा शोषितों के पक्ष में खड़ा होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि आधुनिक साहित्य को समाजवाद का सद्उपदेश देना चाहिए।

आजादी के बाद यह संगठन कमजोर होने लगा। इसके कारण कुछ व्यक्ति नहीं हैं। लोगों का यह ख्याल गलत है कि रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान तथा हिन्दी उर्दू के विवाद के कारण संगठन कमजोर हुआ। यह अर्द्ध सत्य है। तथ्य यह है कि स्वतंत्रता के बाद बहुत से लेखकों के सपने पूरे हो गये। वे चाहते थे कि देश आजाद हो जाये और स्वतंत्रा गणतंत्र बन जाये। किन्तु बहुत से लोग साम्यवाद से नेहरूवाद की ओर चले गये और

नेहरू को ही मसीहा मानने लगे। दुनिया के अधिकांश मध्यवर्गीय व्यक्ति यही करते हैं जो एक नयी राष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था के आते ही उसके प्रशंसक हो जाते हैं। विश्व इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। क्रान्तिकारी बातें करना बहुत आसान है, लेकिन सबसे कठिन है समाज की संरचना को बदलना, इस संरचना के लिए जितना राजनीतिक आन्दोलन महत्त्वपूर्ण है, उससे सामाजिक आन्दोलन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यहाँ 19वीं शताब्दी में आर्य समाज तथा सर सैय्यद के आन्दोलन के बाद कोई भी बड़ा सामाजिक आन्दोलन नहीं हुआ। आर्य समाज की एक समय बड़ी प्रगतिशील भूमिका थी स्त्रियों और अछूतों के सम्बन्ध में अपने समय में उसके विचार बहुत प्रगतिशील थे, स्वामी दयानन्द ने भारतेन्दु से कहा कि मेरा बस चले तो हिन्दुस्तान के सभी मंदिरों की मूर्तियाँ गंगा में बहा दूँ। इस मूर्ति पूजा ने देश को बर्बाद करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। डीएवी शिक्षा संस्थानों की स्थापना कर शिक्षा में क्रान्तिकारी कार्य किया। किन्तु 1925 के बाद आर्य समाज उसी दल-दल में फँस गया जिससे वह समाज के निकालने में लगा। पाखण्ड और संकीर्णता उनमें भी समा गयी।

सर सैय्यद अहमद खाँ का आन्दोलन भी नयी रोशनी फैलाने वाला था। लोगों को अज्ञान के अँधेरे से निकालने का सबसे संगठित प्रयास था। सर सैय्यद की मृत्यु के बाद जिन लोगों ने इस पर कब्जा जमाया उनके पास न तो सर सैय्यद जैसी दूरदर्शिता थी न ही कोई सोच थी। उन लोगों ने यूनीवर्सिटी को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल किया। फिर भी अलीगढ़ में एक छोटे से वर्ग ने उनकी गलत नीतियों का खुलकर विरोध किया। इनमें सरदार जाफरी, अख्तर रायपुरी, मजाज, जानिसार अख्तर तथा इस्मत चुगताई और रशीद जहाँ जैसे प्रमुख रचनाकार थे। आले अहमद शुरूर भी इसमें शामिल थे। प्रमुख बुद्धिजीवियों में मो. हबीब, कारी महमूद, डॉ. ख्वाजा तथा उनके सहयोगी अन्दर से सदैव अनुचित नीतियों का विरोध करते थे। डॉ. जाकिर हुसैन ने तो अलग होकर जामिया मिल्लिया की स्थापना की जो आज एक बड़े विश्वविद्यालय के रूप में जाना जाता है।

प्रगतिशील लेखक संघ की सबसे बड़ी कामयाबी यह थी कि हिन्दी-उर्दू तथा पंजाबी तीनों भाषाओं के अदीबों ने धर्म के आधार पर विभाजन का जमकर विरोध किया था। इसे साम्राज्य की चाल बताते हुए एक ला-इलाज रोग बताया। हिन्दू महासभा को मुस्लिम लीग की बहिन बताया। यह ऐतिहासिक कार्य प्रगतिशील लेखकों ने ही किया। अतः आज उनकी उपयोगिता के समुचित मूल्यांकन की जरूरत है। कांग्रेस में भी प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों प्रकार की शक्तियाँ सक्रिय थीं।

देश विभाजन ने भी प्रगतिशील आन्दोलन को कमजोर किया। आम हिन्दी का लेखक समझता था कि उर्दू पाकिस्तान की राजभाषा हो गयी है। अतः हमें उर्दू से क्या मतलब? यह नीति पाकिस्तान के लिए तो सुविधाजनक थी लेकिन भारतीय लोकतान्त्रिक माहौल में यह फिट नहीं थी। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए लोगों ने कहा कि उर्दू वहाँ की राजभाषा कैसे हो सकती है। वहाँ की राजभाषा सिन्धी पस्तो या कोई अन्य भाषा होनी चाहिए थी उर्दू नहीं। इस तरह से देखा जाये तो पाकिस्तान के आन्दोलन ने उर्दू को सबसे ज्यादा नुकसान पहुँचाया। यशपाल का 'झूठा सच', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' तथा भीष्म साहनी का 'तमस' इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता से विचार करते हैं।

भाषा, संस्कृति का बहुत जटिल पहलू है। उसका सम्बन्ध भावना से अधिक है। इसके लिए निरन्तर प्रयास किये जाते रहे कि हिन्दी-उर्दू करीब से करीबतर होती जाये। पहले भी बहुत से प्रयास हुए किन्तु वह असफल रहे। प्रगतिशील लेखक संघ इसी प्रयास में बँट गया उसमें दो खेमें हो गये-- उर्दू प्रगतिशील लेखक संघ तथा हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ। राही जैसे रचनाकार जो हिन्दी-उर्दू में समान रूप से लिखते थे। उन्होंने कहा कि किधर जाऊँ हिन्दी में, उर्दू में, तभी उन्होंने कहा कि प्रगतिशीलता एक होती है। हिन्दी या उर्दू की अलग-अलग नहीं होती है। वस्तुतः यह दुविधा व्यक्तित्व के टकराहट की थी। इसके पीछे ऐतिहासिक तर्क न था। जब कोई बड़ा आन्दोलन नहीं होता तो लेखकों और बुद्धिजीवियों के अहम् टकराने लगते हैं जिससे नयी समस्या उत्पन्न हो जाती है। यही समस्या आजादी के बाद प्रगतिशील लेखक संघ के दरपेश आयी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिशील लेखक संघ का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। भक्ति आन्दोलन के बाद यह दूसरा बड़ा आन्दोलन है जिसने पूरे समाज को झकझोर कर रख दिया। एक नयी चेतना तथा नये सोच का प्रसार किया। सामाजिक समस्या को बदलने का भी भरसक प्रयास किया तथा उसमें बहुत हद तक सफल भी रहे। स्त्रियों की समस्या को भी प्रमुखता से रेखांकित किया। उन्होंने दलित और स्त्रियों के सम्बन्ध में कोई आदर्श बात न करके व्यवहार में उनकी उन्नति के लिए कार्य किये।

डॉ. रशीद जहाँ, इस्मत चुगताई, कुर्तुल एन हैदर, हाजरा बेगम जैसी उर्दू की लेखिकाओं ने प्रगतिशील आन्दोलन को अखिलता प्रदान की। हिन्दी में महादेवी वर्मा तथा सुभद्रा कुमारी चौहान भी प्रगतिशील आन्दोलन से मुताशिर रहीं। नारी जीवन के सम्बन्ध में डॉ. रशीद जहाँ तथा महादेवी वर्मा में काफी समानता है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में आज भी अनेक नारी रचनाकार हैं जो इस परम्परा को आगे बढ़ा रही हैं।

आज दलित विमर्श की बड़ी चर्चा है और इसमें दलित रचनाकार पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध कम, मार्क्सवाद का विरोध ज्यादा कर रहे हैं। आजादी से पहले दलितों की समस्याओं पर मार्क्सवादी रचनाकारों और बुद्धिजीवियों ने व्यवहारिक स्तर पर जो किया उसका भी मूल्यांकन करने तथा लोगों के सामने लाने की आवश्यकता है। देश के मार्क्सवादी आज भी दलितों के साथ सक्रिय भागीदारी कर हाशिये के समाज को भूख-गरीबी तथा अशिक्षा से छुटकारा दिलाने की निरन्तर कोशिश कर रहे हैं।

बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों को यह नारा दिया था कि 'उच्च शिक्षा प्राप्त करो तथा संघर्ष करो' उन्होंने अस्पृश्यता को ऐतिहासिक कोढ़ बताया। उन्होंने तत्कालीन सवर्ण समाज को चेतावनी दी थी कि मौजूदा परिस्थितियों में उन्हें बदलना होगा तथा दलितों को उनका हक देना होगा। लॉ कालेज (औरंगाबाद) देश की अग्रणी कालेजों में से है। इसकी स्थापना बाबा साहब अम्बेडकर ने की थी। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि ये संस्थाएँ दलितों के लिए अवश्य हैं किन्तु यहाँ योग्य गैर दलितों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। उन्होंने श्रेष्ठ अध्यापकों की नियुक्ति पर बहुत जोर दिया था। उनका विचार था कि अध्यापक कई पीढ़ियों को बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है अतः अध्यापक अच्छे होने चाहिए। इन शिक्षा संस्थाओं में गैर दलित शिक्षकों की संख्या अब भी अधिक है।

इसी प्रकार आज नारी विमर्श पर बहुत बहस हो रही है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण नारी के लिए सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समानता का पक्षधर रहा है। समानता के सिद्धान्त को व्यवहार में भी उन्होंने स्वीकार किया है। इसके बरअक्स इस दूसरी पूँजीवादी व्यवस्था का नारी चिन्तन है। जिसमें नारी को मन चाहे वस्त्रों को पहनने तथा क्लब जाने की पूरी छूट दी है। उनके अनुसार शरीर उनका है जैसा चाहे वैसा प्रयोग करें। इस व्यवस्था के चिन्तकों ने नारी को शो-पीस बना दिया है। नारी को विक्रय की वस्तु बना दिया है। हमारे बहुत से लेखक जाने-अनजाने इसी पतनशील व्यापारिक विचारों के समर्थक हो गये हैं। प्रगतिशील आन्दोलन ने इन दोनों मूल्यों की तुलना की है।

यशपाल तथा रांगेय राघव जैसे रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हमें ऐतिहासिक दृष्टि दी है। किसी भी भाषा का साहित्य नये विचारों और नयी समस्याओं से जूझकर ही सच्चा साहित्य बनता है। जिस लेखक के पात्र जितने अधिक चेतना सम्पन्न होकर संघर्ष करेंगे उतना ही वे सफल होंगे। प्रगतिशील लेखकों ने कहा कि व्यक्ति जब संघर्ष करता है तो स्वयं को, परिस्थितियों को तथा समाज को बदलता है। इससे एक यथार्थवादी परम्परा का जन्म होता है। यथार्थवाद ही किसी साहित्य को महत्त्वपूर्ण बनाता है। रोमानी क्रान्तिकारिता साहित्य के लिए एक सीमा के बाद बाधक बन जाती है। एक समय था जब प्रगतिशील साहित्य को हाशिये पर रख दिया गया था। धीरे-धीरे रोमानी क्रान्तिकारिता का कोहरा छँटा तो यह बात समझ में आ गयी कि यथार्थवादी साहित्य की स्थायी होता है।

हिन्दी-उर्दू में अनेक नये लोग उभर कर आते तो हैं किन्तु दो-तीन अच्छी रचनाओं को लिखने के बाद पूँजीपतियों के आगोश में चले जाते हैं या फिर अराजकता के आकाश में विचरण करने लगते हैं। वस्तुतः जन आन्दोलन से जब तक यह लेखक नहीं जुड़ेंगे और प्रगतिशीलता की बात करेंगे तो यह अन्तर्विरोध बड़ा रचनाकार बनने से रोकेगा। कोई पत्रिका या बड़ा पत्रकार किसी लेखक को महान नहीं बना सकता। बाजार में बिकाऊ जरूर बना सकता है।

अन्तः में, फिर से बात लेखक संगठनों की करते हैं। समय के साथ प्रगतिशील लेखक संघ बिखरता चला गया। आज वामपंथियों के तीन संगठनों-- जनवादी लेखक संघ, प्रगतिशील लेखक संघ तथा जन संस्कृति मंच की स्थिति अच्छी नहीं है। बाजारवादी व्यवस्था ने तीनों को अकेला कर दिया है। मार्क्सवाद सामूहिकता पर बहुत बल देता है लेखक संगठनों की यही ऐतिहासिक सीमा है। मार्क्सवाद आत्मालोचना के सिद्धान्त का हामी है किन्तु ये संगठन आत्मालोचना से उसी तरह डरते हैं जैसे कि साधारण रचनाकार डरते हैं। प्रो. अब्दुल अलीम जिनका सम्बन्ध प्रगतिशील लेखक संघ के पुरोधाओं से है। उन्होंने लेखकों की एक बड़ी मीटिंग में कहा था कि लेखक संगठन बनाना उतना ही कठिन है जितना कि हिरन पर घास लादना। लेकिन हिरन पर घास लादने का कार्य प्रगतिशील लेखक संघ को विरासत मानने वाले ही कर सकते हैं, इसे कोई दूसरा नहीं कर सकता।

जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वस्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

-- प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य

आईपीसीसी की ताजा रिपोर्ट : धरती पर जीवन के विनाश की अन्तिम चेतावनी

-- अमरपाल

जलवायु परिवर्तन पर अन्तरसरकारी पैनल (आईपीसीसी) की छठी मूल्यांकन रिपोर्ट *'जलवायु परिवर्तन-2021: भौतिक विज्ञान के आधार पर'* जारी हो हुई। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि जलवायु परिवर्तन के कारण धरती के करोड़ों प्रजातियों के पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं और इनसानों का अस्तिव संकट में है। ओजोन परत की दरार चौड़ी हो रही है, समुद्री जल में तेजाब की मात्र बढ़ रही है। वातावरण में नाइट्रोजन और फास्फोरस का चक्र असन्तुलित हो गया है। पृथ्वी तेजी से गर्म होती जा रही है। ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र का जलस्तर बढ़ना, हरे-भरे इलाकों का रेगिस्तान में बदलना, जीवों और वनस्पतियों की प्रजातियों का लुप्त हो जाना, कहीं बाढ़ और कहीं सूखे का प्रकोप धरती के गर्म होने का ही परिणाम है। जलवायु परिवर्तन के चलते ही खेती के फसल चक्र में भी परिवर्तन हो रहे हैं।

जलवायु संकट को लेकर आज पूरी दुनिया में तीखी बहसें चल रही हैं। मुद्दा यह है कि जलवायु परिवर्तन प्रकृति की अनिवार्य परिघटना है या मनुष्य द्वारा धरती की स्वार्थपूर्ण, अनियन्त्रित लूट-खसोट का परिणाम है? इस संकट के लिए कौन जिम्मेदार है और इसकी कीमत किसे चुकानी पड़ रही है? इसके प्रति दुनिया के शासकों की लापरवाही और उपेक्षा का क्या कारण है? क्या यह विपदा सचमुच भयावह है या इसे बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जा रहा है? इसे समझने के लिए आईपीसीसी पैनल की ताजा रिपोर्ट गौरतलब है।

आईपीसीसी संयुक्त राष्ट्र द्वारा दुनिया भर की सरकारों को मिलाकर बनाया गया है। इसकी रिपोर्ट में जलवायु परिवर्तन से धरती और जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अनुमान लगाया जाता है। इस पैनल ने शोध और गहन जाँच-पड़ताल के आधार पर बताया है कि धरती के गर्म होने से लू चलने, सूखा पड़ने, भारी बरसात और समुद्री तूफान जैसी असंख्य विनाशकारी घटनाएँ हो रही हैं। आईपीसीसी कई वर्षों से ग्लोबल वार्मिग और जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों की चेतावनी देता रहा है लेकिन इस रिपोर्ट में पहले से कहीं ज्यादा ठोस प्रमाण और आकड़े हैं और धरती की तबाही के खतरे की ज्यादा स्पष्ट तस्वीर दिखाई दे रही है। आने वाले सालों में धरती का तापमान 1.5 डिग्री बढ़ने की सम्भावना इस रिपोर्ट का सबसे ज्यादा गम्भीर तथ्य है।

इस संस्था के सहअध्यक्ष बलेरी मैसन-डेलमोट्टे ने कहा है कि पहले की रिपोर्ट में सम्भावना जाहिर की जाती थी लेकिन इस बार अकाट्य प्रभाव के साथ खतरे को बताया गया है। अगर इसके बाद भी दुनिया की सरकारें इस समस्या को गम्भीरता से नहीं लेतीं, इससे निपटने का प्रयास नहीं करतीं तो यह एकदम साफ है कि धरती को विनाश की ओर ले जाने में उनकी सचेत सहभागिता है। वे विकास के नाम पर मुनाफाखोरी को बढ़ावा देने पर आमादा हैं और धरती को नष्ट करने के रास्ते पर चल रही हैं।

धरती का तापमान औद्योगिक युग के पहले की तुलना में 1.1 डिग्री सेल्यिस बढ़ चुका है, और यह 2040 तक तय की गयी अन्तिम सीमा 1.5 डिग्री सेल्सियस तक पहुँच जायेगा। जबकि 2015 के पेरिस समझौते में 1.5 डिग्री तक रोके रखने पर सहमति बनी थी। अगर ऐसा नहीं हुआ तो धरती पर जीव-जन्तुओं और मनुष्य का अस्तिव खतरे में पड़ जायेगा और इससे होने वाले पर्यावरणीय नुकसान की भरपाई असम्भव हो जायेगी।

भारत के मामले में तापमान बढ़ने का नतीजा तटवर्ती इलाकों के समुद्र में डूबने, हिमालय के ग्लेशियर पिघलने, लू चलने, उमसभरी तेज गर्मी पड़ने और मानसून में गड़बड़ी के रूप में सामने आने लगा है। यहाँ पहले ही गर्मी और सर्दी के अधिकतम और न्यूनतम तापमान में बढोतरी हो चुकी है और यह आने वाले दशकों में और ज्यादा बढ़ेगा। आज गर्मी की भयावहता से पीड़ित दुनिया के कुल लोगों में से आधे भारत में हैं। अगर गर्मी में और ज्यादा बढ़ोतरी हुई तो भारत के काफी बड़े इलाके से करोड़ों लोगों को उजड़ना पड़ेगा।

इस पैनल ने यह भी बताया कि मानव जनित प्रदूषण ने मानसून के वर्षा चक्र को भी परिवर्तित कर दिया है, जिसका दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और पूर्वी एशिया में बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसके अकाट्य प्रमाण दिये गये हैं कि ग्लोबल वार्मिग मानव गतिविधियों के चलते बढ़ रहा है और इसके नतीजे

असमाधेय संकट की ओर ले जायेंगे। यहाँ बस इतना और जोड़ देने की जरूरत है कि सभी मानवों की नहीं, बल्कि मुनाफे की हवस में भूखे मुट्ठीभर पूँजीपतियों की गतिविधियों ने पर्यावरण को तबाह कर डाला है, लेकिन आईपीसीसी जैसी किसी पूँजीपतियों की संस्था से इतनी बेबाकी की उम्मीद करना बेकार है। वे तो यही बतायेंगे कि इसके लिए हर मनुष्य जिम्मेदार है। हम जानते हैं कि तापमान 1.5 डिग्री बढ़ने से हुए बदलावों का ठीक करना असम्भव होगा। जैसे-समुद्र का स्तर बढ़ना, ग्लेशियरों का पिघलना आदि को पुरानी अवस्था में वापस नहीं लाया जा सकेगा।

हिन्द महासागर का जलस्तर 3.7 मिलीमीटर सालाना बढ़ रहा है। रिपोर्ट बताती है कि जलस्तर के बढ़ने से आने वाली आपदाएँ जो पहले 100 साल में आती थीं, अब हर साल आ सकती हैं। इसी वजह से मानसून भी गड़बड़ा गया हैं। भविष्य में बारिश की कमी और अधिकता एक साथ होंगी। इससे समुद्र तटीय इलाकों में किनारों की मिट्टी का कटाव, बाढ़ और गर्मी और ज्यादा बढ़ेगी। इस मामले में भी भारत सबसे ज्यादा प्रभावित होने वाला इलाका है।

रिपोर्ट में दर्ज है कि अगर ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कटौती नहीं हुई तो इस सदी के आखिर तक धरती का तापमान 2 डिग्री बढ़ जायेगा। जिस तरह साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव में डब्लूएचओ ने पर्यावरण के मानदण्डों को और ढीला किया है, उससे विकसित देशों को धरती को तबाह करने की छूट मिल गयी है। विकसित देश ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ा रहे हैं। अगर ऐसी ही स्थिति रही तो सदी के अन्त तक तापमान 4 डिग्री तक बढ़ने की सम्भावना है। तब धरती से जीवन लुप्त हो जाएगा।

रिपोर्ट कहती है कि घटनाओं के बारे में जो आकलन किया गया है वह औसत आँकड़ों पर आधारित है, घटनाओं के उच्चतम स्तर पर नहीं। जैसे 2 डिग्री तापमान हमेशा नहीं रहेगा, वह कभी 5 डिग्री तो कभी 10 डिग्री भी हो सकता है और कम भी। इस असन्तुलन का कितना भयावह परिणाम होगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभाव की कई घटनाएँ एक साथ भी सामने आ सकती हैं और एक दूसरे को तेज कर सकती हैं। इसका एक छोटा सा उदाहरण इसी साल उत्तराखण्ड और हिमाचल प्रदेश में देखने को मिला, जहाँ भारी वर्षा, भूस्खलन, बर्फ खिसकना और बाढ़ एक साथ देखने में आयी। ग्लेशियर टूटने के साथ-साथ तेज बारिश और बाढ़ की घटनाएँ भी खूब देखने को मिल रही हैं। यह सामान्य एकल घटनाओं से कई गुणा ज्यादा घातक है और देखते-देखते, बिना किसी चेतावनी के भारी तबाही मचाती हैं।

रिपोर्ट से पूरी दुनिया के सामने यह और ज्यादा स्पष्ट हुआ है कि जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग के लिए अमरीका, जापान, यूरोपीय संघ और तेल उत्पादक देश सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। क्योटो प्रोटोकाल के तहत इन्होंने कार्बन उत्सर्जन में 5.2 प्रतिशत कमी करने की जिम्मेदारी ली थी। अपनी जिम्मेदारी निभाने के बजाय इन देशों ने कार्बन उत्सर्जन 11 प्रतिशत और अधिक बढ़ा दिया है। इसकी भारी कीमत दुनिया के गरीबों को चुकानी पड़ रही है। पूरी दुनिया में 5 साल से कम उम्र के 1 करोड़ बच्चे हर साल खसरा, डायरिया और साँस की बीमारी से मर जाते हैं, इसकी वजह दूषित पर्यावरण और इसकी जिम्मेदार मानवद्रोही सामाजिक-आर्थिक पूँजीवादी व्यवस्था है।

आज पर्यावरण की दुर्दशा और जलवायु परिवर्तन ऐसी नाजुक स्थिति में पहुँच गया कि मानवता का विनाश सामने दिखने लगा है। घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय विस्थापन भी इसके प्रमुख दुष्परिणामों में से एक है। अनुमानों के अनुसार जलवायु परिवर्तन के चलते 1995 तक लगभग 2.5 करोड़ लोग उजड़ चुके थे और 2050 तक 20 करोड़ से 1 अरब तक लोग उजड़ जायेंगे। इनमें से अधिकतर लोग एशिया, अफ्रीका, लातिन अमरीका के गरीब देशों के होंगे। क्या जलवायु परिवर्तन के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार अमरीका और यूरोप इतने लोगों की जीविका और मूलभूत अधिकारों की गारण्टी लेंगे? अपनी जमीनों से उजड़कर ये कहाँ जायेंगे, कैसे जियेंगे?

धरती माँ और मानव जाति के सच्चे हितैषी और समतामूलक समाज के महान विचारक फ्रेडरिक एंगेल्स ने हमें डेढ़ सौ साल पहले सचेत करते हुए बताया था कि "प्रकृति पर अपनी इनसानी जीत को लेकर हमें बहुत ज्यादा डींग नहीं हाँकनी चाहिए, क्योंकि ऐसी हरेक जीत के बदले प्रकृति हमसे बदला लेती है"।

अगर अभी भी धरती माँ को साम्राज्यवादियों और इनके पिछलग्गूओं की मुनाफे की हवस से नहीं बचाया गया तो न धरती माँ रहेगी और न ही मानव जाति। अगर हम अभी भी नहीं जागे तो पूरी धरती का विनाश तय है।

मैं जरा देर से इस दुनिया में पहुँचा
तब तक पूरी दुनिया सभ्य हो चुकी थी
सारे जंगल काटे जा चुके थे
जानवर मारे जा चुके थे
वर्षा थम चुकी थी
और तप रही थी पृथ्वी
आग के गोले की तरह.....
चारों तरफ लोहे और कंक्रीट के
बड़े-बड़े घने जंगल उग आये थे
आदमी का शिकार करते कुछ आदमी
अत्यन्त विकसित तरीकों से....

-- कुँवर नारायण

अफगानिस्तान युद्ध में अमरीका की हार के मायने

--विक्रम प्रताप

अफगानिस्तान से अमरीकी सेना जिस तरह बेआबरू होकर रुखसत हुई और जिस तेजी से तालिबानी लड़ाकों ने सत्ता पर कब्जा किया, उसे देखकर दुनिया हतप्रभ रह गयी। तालिबान द्वारा सत्ता पर कब्जा जमाये जाने के बाद कई तरह की अटकलें और चिन्ताएँ जतायी जाने लगीं। आइये, नयी परिस्थिति की नजाकत को परखते हैं।

पिछले 20 साल से अमरीका और अफगानिस्तान के बीच युद्ध चल रहा था, जिसमें एक तरफ अमरीका की हमलावर सेना थी तो दूसरी ओर कट्टरपंथी तालिबान। हालाँकि कुछ लोग इस युद्ध से इनकार करते हैं। वे कहते हैं कि अमरीका-तालिबान युद्ध एक भ्रम है। ऐसी बातें वही कह सकता है जो पिछले 20 साल के अफगानी इतिहास से परिचित न हो।

पिछली शताब्दी के आखिरी दशक में अमरीकी साम्राज्यवादियों ने दुनिया पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए कई नवउदारवादी तौर-तरीके ईजाद किये, जिसमें मुस्लिम आतंकवाद का हौवा कायम करना भी एक तरीका है। उन्होंने किसी भी स्थापित सत्ता के खिलाफ लड़नेवालों को आतंकवादी, चरमपन्थी, खून पीनेवाले पिशाच के रूप में चित्रित किया और इसमें काफी हद तक सफलता हासिल की। उनकी साम्राज्यवादी मीडिया ने पूरी दुनिया में तथाकथित आतंकवादियों को खूँखार दरिन्दों के रूप में पेश किया। दुनिया भर में क्रान्तिकारी ताकतों को, जो अपने देश की अन्यायी सरकारों के खिलाफ लड़ रही थीं, उन्हें भी आतंकवादी कहा गया। आतंकवाद का हौवा हर पूँजीवादी बुद्धिजीवी और आम जनता को आतंकित करने लगा।

जब यह स्थिति बन गयी और अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर पर हमला हुआ, तो अमरीका ने इसे पूरी दुनिया पर हमले के रूप में प्रचारित-प्रसारित किया और इसे अफगानिस्तान पर हमले के लिए एक बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया।

यह वही अमरीका है, जो आज भी दुनिया के आठ सौ से अधिक क्षेत्रों में जबरन अपने सैनिक अड्डे बनाये हुए है, यह वही अमरीका है, जिसने लाखों वियतनामी, उत्तर कोरियाई, जापनी लोगों का कत्लेआम किया, लेकिन उस खून के प्यासे अमरीकी शासकों को आतंकवादी नहीं कहा गया। यह वही अमरीका है, जिसने लाखों इण्डोनेशियाई कम्युनिस्टों के नरसंहार में भाग लिया, युगोस्लाविया पर हमला करके लोगों की जाने लीं, तीसरी दुनिया के देशों में हर जगह, हर कहीं लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर हत्याएँ करने में आगे रहा। यह सब नोम चोमस्की और जॉन बेलामी फोस्टर की किताबों में लिपिबद्ध है और जिस साहस के साथ अमरीकी होते हुए भी उन्होंने अमरीका के युद्ध अपराधों का पर्दाफाश किया है, दुनिया के सामने उसे रखा है, उसके लिए अगर हम उनका शुक्रगुजार नहीं होते तो हम पर लानत है।

जब कुछ लोग अफगानिस्तान से अमरीकी हथियारबन्द सैनिकों की विदाई पर आँसू बहाते हैं तो इस बात पर किसी भी न्यायप्रिय इनसान का खून खौल उठना लाजमी है। इस पर दुष्यन्त का शेर याद आये बिना नहीं रहता-- "रहनुमाओं की अदाओं पे फिदा है दुनिया/ इस बहकती हुई दुनिया को सँभालो यारो।"

अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर पर हमले के बाद अमरीकी राष्ट्रपति बुश बोला, "या तो आप हमारे साथ हैं या आतंकवादियों के साथ।" इस तरह अमरीकी साम्राज्यवाद ने एक ऐसा दर्शन गढ़ लिया था कि जिसमें आपके चुनने की आजादी खत्म कर दी गयी थी। आज भी यह दर्शन प्रतिक्रियावादियों की बड़ी मदद कर रहा है यानी या तो आप हमारे साथ हैं, नहीं तो दुश्मन के साथ। उन्मादी बुश ने आतंकवाद के हौवा का फायदा उठाया और अफगानिस्तान पर हमला बोल दिया। अमरीका ने बिन लादेन को छिपाये रखने के लिए अफगानिस्तान की सत्ता में काबिज तालिबान को जिम्मेदार ठहराया। यह सभी जानते हैं कि न केवल तालिबान बल्कि इस्लामिक देशों में हथियारबन्द विद्रोहियों को पैदा करने, उन्हें पालने-पोसने और बड़ा करने का काम अमरीका ने अपने प्रतिद्वंद्वी सोवियत रूस को पछाड़ने के लिए किया था, लेकिन जब रूस टूट गया तो उसे इनकी जरूरत नहीं रह गयी, लेकिन तब तक इन विद्रोहियों ने अपने-अपने इलाकों में अमरीका से स्वतंत्र अपना अस्तित्व कायम कर लिया था। जिन्न बोतल से बाहर निकल चुका था, और अपनी भूमिका निभाये बिना वापस बोतल में जाने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए ये विद्रोही अमरीकी राह के रोड़े बन गये थे, जिन्हें हटाना जरूरी था। इन्हें ही आतंकवादी कहकर पूरी दुनिया में इनकी भर्त्सना की गयी।

अमरीका द्वारा अफगानिस्तान पर हमला उसी तरह एक

युद्ध अपराध है, जिस तरह उसके द्वारा वियतनाम, ईराक, सीरिया आदि पर किया गया हमला युद्ध अपराध है। इन देशों पर हमला इन्हें गुलाम बनाकर इनके संसाधनों जैसे-- खनिज, पेट्रोलियम आदि को लूटने के लिए किया गया था। यह उसी तरह एक युद्ध अपराध है, जिस तरह हिटलर की सेना द्वारा दूसरे देशों पर किया गया हमला युद्ध अपराध था।

अफगानिस्तान पर हमले के बाद तालिबानी लड़ाके अमरीकी सेना से हारकर अण्डरग्राउण्ड हो गये और अमरीकी सेना के खिलाफ गुरिल्ला युद्ध लड़ने लगे। अमरीका ने अफगानिस्तान में करजई के नेतृत्त्व में एक पिट्ठू सरकार बना ली। लेकिन 20 साल में कोई ऐसा दिन नहीं गुजरा जब अमरीकी घुसपैठियों के खिलाफ तालिबानी न लड़े हों और कोई ऐसा दिन नहीं गुजरा जब पश्चिम की साम्राज्यवादी मीडिया ने उन्हें जल्लाद के रूप में चित्रित न किया हो।

तालिबानी लड़ाकों का दोष बस इतना है कि वे इस्लाम की बेहद पुरानी विचारधारा से बिलकुल नया युद्ध लड़ रहे थे, उनके पास न तो हथियार आधुनिक थे और न ही विचार। हर तरह की धार्मिक विचारधारा की तरह ही इस्लामिक विचारधारा भी इतिहास की चीज बन गयी है, बस उसे जिन्दा बनाये रखने के लिए उसके प्रेत लड़ रहे हैं। लेकिन तालिबानी प्रेत चाहे जितने कट्टरपंथी हों, वे किसी भी रूप में कम देशभक्त नहीं माने जा सकते क्योंकि वे किसी भी विदेशी ताकत को अपनी सर-जमीं पर बर्दाश्त नहीं कर रहे हैं।

पश्चिम की साम्राज्यवादी मीडिया ने रात-दिन यह प्रचारित किया कि तालिबानी अफगानिस्तान की जनता के खिलाफ कहर बरसा रहे हैं। लेकिन इस बात का जवाब न तो पश्चिमी मीडिया के पास है और न ही तालिबान के खिलाफ नफरत में अन्धे हो गये हिन्दू कट्टरपंथी लोगों के पास कि जब तालिबानी लोग अफगानिस्तान की जनता के खिलाफ कहर बरसा रहे थे तो वह कौन सी ताकत थी जिसने तथाकथित "दयालु" अमरीकी सेना और उसकी पिट्ठू सरकार के खिलाफ तालिबानियों को मजबूत करती चली गयी। इसलिए यह बात गले से नहीं उतरती कि तालिबानी लड़ाके अफगानी जनता के खिलाफ धार्मिक उन्माद के जरिये कहर बरसा रहे थे।

तालिबानी मजबूत क्यों होते चले गये? इसे समझने के लिए पूरी दुनिया के इतिहास से एक सबक याद रखना होगा, वह सबक है कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद पूरी दुनिया की जनता की चेतना इतनी बढ़ गयी कि वह अपने देश की भ्रष्ट से भ्रष्टतम और क्रूर से क्रूरतम सरकार को स्वीकार कर सकती है, लेकिन विदेशी सेना या सरकार को अपनी जमीन पर बर्दाश्त नहीं कर सकती। वैसे भी अफगानिस्तानी जनता ने कभी विदेशी शासन को स्वीकार नहीं किया। पहले वे अंग्रेजों से लड़े, फिर रूसियों से लड़े और उसके बाद अमरीकियों से लड़े, और सभी को भगाया।

अफागान युद्ध में अमरीका कैसे हारा?

आर्थिक रूप से यह युद्ध अमरीका के लिए घाटे का सौदा बन गया था। साल 2010 से 2012 के बीच जब अफगानिस्तान में अमरीकी सैनिकों की संख्या एक लाख से अधिक हो गयी थी, उस समय इस युद्ध में अमरीका का सालाना खर्च सौ अरब डॉलर से अधिक था, जबकि 2018 में सालाना खर्च 45 अरब डॉलर था। अक्टूबर 2001 से सितम्बर 2019 के बीच 778 अरब डॉलर खर्च हुए। यह जानकारी खुद अमरीकी सरकार ने उपलब्ध करायी है।

युद्ध में अमरीकी हताहतों पर गौर करें तो पता चलता है कि अब तक इस युद्ध में 2300 से अधिक अमरीकी सैनिक अफगानिस्तान में जान गँवा चुके हैं जबकि 20,660 सैनिक लड़ाई के दौरान घायल भी हुए हैं। अमरीका की पिट्ठू सरकार की हालत तो इससे भी खराब है। इस युद्ध में 64,100 से अधिक अफगानिस्तानी सैनिक और पुलिसकर्मी मारे जा चुके हैं।

अफगानिस्तान युद्ध एक जमीनी लड़ाई थी, उन युद्धों की तरह नहीं, जिसे तथाकथित बुद्धिजीवी अपने ख्यालों में ही लड़ लिया करते हैं। युद्ध के शुरुआती दौर में जब अमरीका अफगानिस्तान पर हवाई हमला कर रहा था तो बढ़त की स्थिति में था और तालिबान पीछे हट रहा था, लेकिन जैसे ही अमरीकी सेना शहरों को कब्जाने के लिए जमीन पर उतरी, उसे नाकों चने चबाने पर मजबूर कर दिया गया। 10 साल बाद भी अमरीकी सैनिक देश पर पूरी तरह कब्जा न जमा सके और अमरीका पीछे हटते हुए अपने सैनिकों की संख्या को कम करने पर मजबूर हुआ। तब से आज तक उसने कठपुतली सरकार के अफगानी सैनिकों को प्रशिक्षित कर तालिबान से लड़ाने का काम किया, लेकिन वे इतने कमजोर और पिद्दी साबित हुए कि शहर-दर-शहर हारते चले गये। अन्त में जब इस साल अमरीकी सेना अफगानिस्तान से भागी तो बिना एक गोली दागे, तालिबान ने राजधानी काबुल पर कब्जा कर लिया।

कहावत है कि हारी हुई सेना के जनरल एक-दूसरे पर आरोप लगाते हैं। यही हाल अमरीका का हो रहा है। वह अपनी हार पचा नहीं पा रहा है। पूर्व अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने मौजूदा राष्ट्रपति जो बाइडन पर कमजोर, अक्षम और रणनीतिक तौर पर पूर्ण विफल होने का आरोप लगाया है। जबकि बाइडन समर्थकों ने ट्रम्प पर भी निशाना साधते हुए आरोप लगाया कि 'सैनिक वापसी के उनके समझौते भी इसके लिए जिम्मेदार हैं।' काबुल के पूर्व अमरीकी सैन्य कमाण्डर, मीडियाकर्मी और राजनीतिज्ञ इस बात की चर्चा कर रहे हैं कि तालिबान के सत्ता पर काबिज होने के बाद अफगानिस्तान के हालात विनाशकारी हो गये हैं। सेना वापसी का फैसला ठीक नहीं था। यह एक भयंकर भूल थी। बातें यहाँ तक हो रही कि अफगानिस्तान युद्ध अमरीका के

इतिहास की सबसे बड़ी भूलों में से एक है।

2018 में कतर की राजधानी दोहा में अमरीका और तालिबान के बीच नौ राउण्ड बातचीत हुई। उसके बाद बातचीत पटरी से उतर गयी। ट्रम्प प्रशासन के समय तालिबान से हुई यह शान्ति वार्ता भी अमरीका की हार का ही एक पहलू है। सवाल है कि आतंकवाद को सबसे बड़ा दुश्मन मानने वाला अमरीका इतना मजबूर क्यों हो गया कि उसे तालिबान के साथ शान्ति वार्ता करनी पड़ी?

अमरीका की हार केवल इस बात में नहीं है कि उसे अफगानिस्तान से बेआबरू होकर निकलना पड़ा और दुनिया भर में उसकी पराभव के चर्चे हो रहे हैं, बल्कि उसकी हार इस बात में भी है कि मध्य एशिया के इस क्षेत्र में अब उसके मुकाबले रूस-चीन खेमा मजबूत हो जाएगा। इससे पहले भी तुर्की और पाकिस्तान, जो उसकी तरफ थे, अब रूस-चीन खेमे की ओर चले गये हैं। इस तरह इस पूरे क्षेत्र में रूस-चीन खेमे के साथ ईरान, तुर्की और पाकिस्तान तो हैं ही, ईराक और सीरिया की भी नजदीकियाँ इनसे बढ़ रही हैं।

भारत की भाजपा सरकार अभी तक यह तय नहीं कर पा रहा है कि वह तालिबान की सत्ता के साथ वार्ता शुरू करे या नहीं क्योंकि उसके साथ वार्ता का अर्थ कहीं-न-कहीं उसे मान्यता देना होगा, जबकि घरेलू राजनीति में भाजपा सरकार खुद को तालिबान विरोधी कहती रही है और आतंकवाद के खिलाफ 'जीरो टोलरेंस' की नीति अपनाने का दावा करती रही है। दूसरी ओर, तालिबान ने भारत से सम्बन्ध पूरी तरह काट लिया है।

तालिबान के हाथ में अफगानिस्तान की कमान

तालिबान के अफगान की सत्ता पर काबिज होने के बाद तरह-तरह के कयास लगाये जा रहे हैं। पूँजीवादी प्रचार माध्यमों में एक बार फिर तालिबान की बर्बरता की खबरें तेजी से उछाली जा रही हैं, जिसे देख मध्यम वर्ग के लोग डर से चीख-पुकार कर रहे हैं।

जिन्हें वर्गों की समझदारी नहीं, आधुनिक समाज में पूँजीपति वर्ग कैसे शासन करता है और उसकी उत्पादन प्रणाली, कबीलाई और सामन्ती उत्पादन प्रणाली से श्रेष्ठ है, इन बातों को नहीं समझते वे तालिबान के आने से डरे हुए हैं। सवाल है कि भारत में सामन्ती मानसिकता वाले हिन्दुत्वादी किस तरह की व्यवस्था चला रहे हैं? क्या वे कांग्रेस से कोई अपनी अलग प्रणाली लेकर आये हैं? नहीं, वे भी कांग्रेस की तरह अमरीकी छत्रछाया में पलनेवाली पूँजीवादी व्यवस्था के हिमायती हैं। फर्क बस इतना है कि वे हिन्दुओं का भयदोहन करके, धर्म-उन्माद फैलाकर, अल्पसंख्यकों को निशाना बनाकर और प्रतिक्रियावादी मूल्य-मान्यता स्थापित करके एक ऐसे समाज का निर्माण कर रहे हैं, जिसमें गुलाम मानसिकता से ग्रसित लोग जनविरोधी सत्ता का किसी भी तरह से विरोध न कर पायें।

सत्ता में आने से पहले तालिबानी कट्टरपंथी चाहे जितनी कबीलाई बर्बरता दिखा लें, हालाँकि 20 साल पहले के और आज के तालिबान में इस मामले में फर्क है कि आज उनकी बर्बरता पहले की तुलना में कम हुई है और यह फर्क विदेशी सेना से लड़ने और अफगानी जनता के एक तबके के साथ बेहतर रिश्ते के चलते विकसित हुआ है, लेकिन फिर भी अगर वे शासन सम्हालते हैं तो वे कौन सी व्यवस्था लागू करेंगे? कबीलाई? सामन्ती? नहीं। क्योंकि ये दोनों व्यवस्थाएँ आज दुनिया से आउटडेटिड हो गयी हैं, इसलिए दुनिया भर के मध्यम वर्ग को घबराने की जरूरत नहीं, तालिबानी अपने देश के उच्च वर्ग (पूँजीवादी) और दूसरे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों के अनुरूप पूँजीवादी व्यवस्था ही लागू करेंगे। वे इस मामले में मदद के लिए दूसरे देशों की ओर देखेंगे क्योंकि वे अकेले दम पर अफगानिस्तान को पूँजीवादी रास्ते पर आगे नहीं ले जा सकते। सम्भव है कि वे रूस-चीन का दामन पकड़ें। अमरीका के मुकाबले रूस-चीन खेमा और मजबूत होगा। इस रूप में भी अमरीकी खेमा हारते हुए पीछे हटने को मजबूर है।

जहाँ तक अफगानिस्तान की न्यायिक व्यवस्था की बात है तो यह स्पष्ट है कि तालिबानी वहाँ शरिया कानून लागू करेंगे, उनके प्रवक्ता ने यह बात स्वीकार भी की है। जिस तरह सऊदी अरब का पूँजीवाद बड़े आराम से शरिया कानून के साथ अस्तित्व में है, जिस तरह भारत में सामन्ती-बर्बर-कबीलाई मानसिकता के लोग कोर्ट-कचहरी तथा शासन व्यवस्था में भरे हुए हैं और उससे पूँजीवाद का मेल बना हुआ है, उसी तरह इसमें कोई बड़ी दिक्कत नहीं कि कट्टरपंथी और शरिया कानून के हिमायती तालिबानी अफगानिस्तान में बड़े मजे से पूँजीवाद को लागू कर सकते हैं और वहाँ का पूँजीवादी वर्ग और मध्यम वर्ग सामन्ती और कबीलाई बर्बरता की ओर से आँखें उसी तरह मूँदे रहे और अक्सर उसे शह भी दे, जिस तरह वे भारत सहित तीसरी दुनिया के कई देशों के शासक वर्ग को देते आ रहे हैं। ऐसा इसलिए सम्भव है कि इन सभी पिछड़े देशों के शासकों के ऊपर साम्राज्यवादी सरपरस्ती है।

हाँ, इन देशों की जनता की बात अलग है। अगर वह सही विचारों से लैश और संगठित हो जाये तो हर तरह के प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादी, पूँजीवादी आततायियों को उठाकर इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देगी, चाहे वे तालिबानी हो, या मनुवादी, या अमरीकी साम्राज्यवादी।

इन सब में एक बात सबसे अहम है कि साम्राज्यवादी अमरीका बैकफुट पर है। साम्राज्यवादी अन्तर्विरोध तेज हो रहे हैं और रूस-चीन का नया साम्राज्यवादी खेमा हर जगह अमरीका के सामने चुनौती पेश कर रहा है।

अफगानिस्तान : साम्राज्यवादी तबाही की मिसाल

-- प्रवीण कुमार

अमरीका और उसका पालतू असरफ गनी अफगानिस्तान से खदेड़ दिये गये। अफगानिस्तान की सत्ता फिर से क्रूर और धर्मान्ध तालिबान के हाथ में है जो अमरीका की परित्यक्त सन्तान है। अमरीका की ही तरह उसके पास भी अफगानिस्तान की जनता के लिए तबाही के अलावा और कुछ नहीं है। 1979 से 2021 तक के 42 वर्षों में अमरीकी साम्राज्यवाद ने अफगानिस्तान को इस हद तक तबाह किया है कि आज इसे एक राष्ट्र भी कहना मुश्किल है। तालिबान अफगानिस्तान को एक राष्ट्र के रूप में पुर्नगठित कर लेगा इसकी भी सम्भावना कम ही है।

2001 में अमरीका दूसरी बार अफगानिस्तान में घुसा था, इस बार उसे लगभग 2500 अरब डॉलर और 2500 सैनिक गँवाकर तथा सत्ता वापस तालिबान के हाथ में सौंपकर भागना पड़ा है। अफगानिस्तान की तबाही के सामने अमरीका का यह नुकसान कुछ भी नहीं है। अफगानिस्तान की मात्र 4.5 कारोड़ की आबादी से लाखों नागरिक और बच्चे अमरीकी कब्जे के दौरान मारे गये, 10 लाख से ज्यादा अफगान केवल ईरान और पाकिस्तान के शरणार्थी शिविरों में हैं। 45 लाख अफगान या तो देश छोड़ चुके हैं या छोड़ने के लिए तैयार बैठे हैं। देश की 70 फीसदी आबादी किसी ना किसी रूप में नशे के कारोबार से जुड़ी है। हर तीसरा अफगान नागरिक भुखमरी का शिकार है। स्कूल, कॉलेज, अस्पताल समेत तमाम बुनियादी ढाँचा ध्वस्त हो चुका है। पूरा देश कबीलों में बँटा है। अफगानिस्तान को जितना गँवाना पड़ा है और इस तबाही की भविष्य में जो कीमत चुकानी पड़ेगी उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

अमरीकी राष्ट्रपति बाइडेन ने कहा है कि "हम अफगानिस्तान में पुननिर्माण के लिए नहीं गये थे।" फिर अमरीका अफगानिस्तान में क्यों घुसा था? ट्विंन टॉवर के हमले के मामले में खुद अमरीका ने स्वीकार किया था कि इसमें तालिबान का कोई हाथ नहीं था। अलकायदा का सरगना ओसामा बिन लादेन अन्ततः पाकिस्तान में पाया गया। निश्चिय ही ये अफगानिस्तान पर हमले के असली कारण नहीं थे। अमरीकी शासकों ने केवल अपने साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिए अफगानिस्तान को तबाह किया, जिस तबाही की आँच अमरीकी जनता को भी भोगनी पड़ी।

अफगानिस्तान जो एक राष्ट्र था

अफगानिस्तान में सेना उतारने के सन्दर्भ में अक्सर सोवियत रूस और अमरीका को एक जैसा दिखाने की कोशिश की जाती है। वास्तव में रूसी सेना के अफगानिस्तान में जाने और अमरीकी कब्जे में जमीन-आसमान का अन्तर है। किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित हुए बिना इन दोनों घटनाओं को तथ्यों की रोशनी में देखना चाहिए।

यह सही है कि 1970 के दशक तक, सोवियत संघ में समाजवाद के रहे-सहे अवशेष का भी अन्त हो गया था, वह सामाजिक साम्राज्यवादी देश में बदल गया था, लेकिन फिर भी उस दौर में दुनिया के बड़े हिस्से में सोवियत साम्राज्यवाद के प्रभाव में प्रगतिशील ताकतें आगे बढ़ रही थीं और साम्राज्यवाद तथा तमाम प्रतिगामी ताकतों का मुकाबला कर रही थीं। इसी वैश्विक परिस्थिति में 1973 में अफगानिस्तान से राजशाही का खात्मा हुआ। बादशाह जहीरशाह के प्रधानमंत्री रहे मोहम्मद दाउद खान ने 1973 में तख्तापलट करके सत्ता अपने हाथ में ले ली और अफगानिस्तान के गणराज्य होने की घोषणा की। अफगानिस्तान के पहले राष्ट्रपति बने दाउद खान मूलतः अफगानिस्तान को भारत पाकिस्तान की तरह ही एक पूँजीवादी लोकतंत्र बनाना चाहते थे। उन्होंने राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप पर रोक लगायी, आधुनिक शिक्षा, बुनियादी ढाँचा और कुछ उद्योग विकसित करने की कोशिश की। वह सोवियत संघ के करीबी थे। उन्होंने एक धर्मनिपेक्ष अफगानिस्तान की नींव रखी। धर्मान्ध ताकतों के खिलाफ उनकी टकराहट लगातार बनी रही लेकिन इन प्रतिगामी ताकतों को काबू करने में वह कामयाब रहे। उनके दौर में अफगानिस्तान एक पूँजीवादी लोकतान्त्रिक राष्ट्र बनने के रास्ते पर कुछ कदम आगे बढ़ा।

1978 में वामपंथी पार्टी, पीपल्स डेमोक्रेटिक पार्टी ऑफ आफगानिस्तान (पीडीपीए) ने दाउद खान का तख्तापलट करके अपनी सरकार बना ली। पड़ोसी देश सोवियत संघ के समाजवादी विचारों का, भले ही वह संशोधनवाद और राजकीय पूँजीवाद के रास्ते पर चल पड़ा था, पढ़े-लिखे शहरी अफगानी समाज पर गहरा प्रभाव था। कबिलाई समाज की तुलना में रूसी समाज काफी आगे

था और संशोधनवादी पार्टी पीडीपीए भी सोवियत संघ से करीबी रिश्ता रखती थी। पीडीपीए के दौर के अफगानिस्तान की तस्वीर आज से बिलकुल अलग थी। लड़कियों का कालेजों, विश्वविद्यालयों में पढ़ना, नौकरी करना, स्कर्ट पहनकर सड़कों पर बेखौफ घूमना आम बात थी। अफगानिस्तान के शहरों में हिन्दुस्तान, पाकिस्तान से ज्यादा खुला माहौल था। अफगानिस्तान में 40 फीसदी डॉक्टर और 70 फीसदी अध्यापक महिलाएँ थी। प्रशासनिक नौकरियों में महिलाओं की हिस्सेदारी 30 प्रतिशत से ज्यादा थी।

गाँव की तस्वीर शहरों से बिल्कुल अलग थी। अफगानिस्तान की 86 प्रतिशत आबादी गाँव में निवास करती थी। वहाँ पिछड़ी कबिलाई संस्कृति का बोलबाला था। सक्षरता दर बामुश्किल 5 प्रतिशत थी। भूमि सम्बन्धों में पिछड़े सामन्ती सम्बन्ध कायम थे, लगभग आधी खेती योग्य भूमि पर केवल 5 प्रतिशत लोगों का कब्जा था। किसान कर्ज में दबे थे और उनकी स्थिति भूस्वामियों और महाजनों के भूदास जैसी थी। कर्ज के बदले किसान की बेटी उठा लेना आम बात थी। लड़कियों की खरीद-बिक्री, बचपन में शादी जैसी चीजें परम्परा का हिस्सा थी। भूस्वामियों, महाजनों के अलावा किसानों की पीठ पर तीसरा बोझ कट्ठमुल्लाओं का था। देहाती जनता के दिमाग धार्मिक जकड़बन्दी में कैद थे। धर्मान्धता, भूस्वामियों और कबीलाई सरदारों की सत्ता का आधार थी। कुलमिलाकर ग्रामिण आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों ने अफगानिस्तान की तरक्की के पैर में बेड़ियाँ डाल रखी थी।

पीडीपीए की सरकार ने सत्ता सम्भालते ही देहात की मुक्ति का अभियान छेड़ दिया। एक क्रान्तिकारी भूमि-सुधार की घोषणा की गयी जिसमें भूमि का किसानों के बीच बराबर बँटवारा होना था। किसानों के तमाम तरह के कर्ज बेबाक कर दिये गये और जमीन उनकी मिल्कियत बना देने की शुरुआत हुई। महिलाओं की खरीद-फरोक्त और जबरन शादी पर कठोर पाबन्दी लगा दी गयी। महिलाओं और पुरुषों के लिए समान अधिकार की घोषणा की गयी और शादी की न्यूनतम उम्र निर्धारित की गयी। सभी के लिए, खास तौर पर लड़कियों के लिए अनिवार्य शिक्षा का कानून बना। देहात में धार्मिक मदरसों और मस्जिदों के निर्माण पर रोक लगाकर आधुनिक स्कूलों और अस्पतालों का निर्माण शुरू हुआ। बुर्के और सर ढकने की परम्पराओं को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सोवियत रूस के सहयोग से रेलों, सड़कों, उद्योगों का निर्माण और खनन कार्य शुरू हुआ।

इस तरह के तीव्र आर्थिक-सामाजिक बदलाव को अमली जामा पहनाने लायक राजनीतिक ताकत पीडीपीए में नहीं थी। शहरों में पीडीपीए की पकड़ बेशक मजबूत थी लेकिन देहात में आन्तरिक रूप से सत्ता कबीलाई सरदारों, भूस्वामियों और मुल्ला-मौलवियों के हाथ में थी। पीडीपीए द्वारा किये जा रहे सुधार इनके लिए जीवन-मरण का सवाल बन गये। दाउद खान द्वारा किये गये सुधारों के खिलाफ कबीलाई सरदार खास तौर पर पख्तून और धर्मान्ध संस्थाएँ पहले ही सर उठा रही थीं। पख्तून अफगानिस्तान की कुल आबादी का 40 प्रतिशत हैं। अमरीका की सरपरस्ती में पाकिस्तान और सऊदी अरब पहले ही उन्हें काबुल की सरकार के खिलाफ भड़का रहे थे। पीडीपीए द्वारा शुरू किये गये सुधारों ने उन्हें नया मौका दे दिया।

1978 में ही अमरीकी कठपुतली शाह ईरान की सत्ता को जनता ने उखाड़ फेंका था और गणराज्य की स्थापना की थी। अफगानिस्तान और ईरान की नयी सत्ता के बीच करीबी रिश्ते कायम हो रहे थे। पाकिस्तान और सऊदी अरब इस गठजोड़ को अपने खिलाफ देखते थे। इसी तरह अमरीका को भी मध्य और दक्षिणी एशिया में संकट साफ दिखने लगा था, तीनों के लिए पीडीपीए की सत्ता का विनाश जरूरी हो गया। अफगानिस्तान में निर्मित हो रहे एक जनकल्याणकारी राष्ट्र की हत्या के लिए अमरीका ने कमर कस ली क्योंकि उसकी नजर में शीतयुद्ध के उस दौर में किसी भी देश का रूसपरस्त होना खतरनाक था।

1978 में ही अमरीका की सरपरस्ती में पाकिस्तान और सऊदी अरब ने सीमान्त पख्तून इलाकों में पीडीपीए की सरकार के खिलाफ छद्म युद्ध छेड़ दिया। पख्तूनों की एक अच्छी-खासी संख्या को वे यह समझाने में कामयाब रहे कि पीडीपीए की सरकार उनकी तहजीब और मजहब का नाश कर देगी। सीआईए के नेतृत्व में इस्लामिक कट्टरपंथ की जहरीली वैचारिक खुराक पूरे अफगानिस्तान में फैलायी जाने लगी। अफगानिस्तान की धरती पर जितने भी जाहिल, लम्पट, अहमक मौजूद थे वे सब रातों रात इस्लाम के रक्षक 'मुजाहिदीन' बना दिये गये। अमरीका ने दिल खोलकर इनकी आर्थिक और सैन्य मदद की। इन तथाकथित 'मुजाहिदीनों' की हौसला अफजाई के लिए अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर का राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ज्बीग्नियेव ब्रजेन्स्की खुद 'खैबर पख्तुनवा' आया। उसने एक हाथ में कुरान और एक में एके-47 लेकर तथाकथित मुजाहिदीनों के सामने उन्मादी भाषण दिया और आह्वाहन किया कि अफगानिस्तान को काफिरों से आजाद करा दो।

साम्राज्यवादी अमरीकी शासकों के पतन की एक मिशाल यह थी कि अफगानिस्तान के बर्बर जाहिल अमरीका के मुक्तिदाता घोषित किये गये। राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने मुजाहिदीनों को व्हाइट हॉउस में खास दावत दी और उन्हें अमरीका के मुक्तिदाता, वाशिंगटन और जैफरसन जैसा बताकर उन्हें विशेष सम्मान दिया। उसी समय लॉन्च होने वाले अमरीकी अन्तरिक्ष यान कोलम्बिया

को इनके नाम समर्पित किया गया। अमरीकी साम्राज्यवादियों की नैतिकता यही है।

अमरीका ने 'मुजाहिदीनों' के लिए डॉलर और बन्दूकों की नदी बहा दी। पीडीपीए की नवगठित सरकार देहात में शुरू हो चुके छद्म युद्ध में अमरीका, सऊदी अरब, पाकिस्तान और मुजाहिदीनों की साझा ताकत का मुकाबला नहीं कर सकती थी। जिस वक्त अमरीका तेजी से मुजाहिदीनों को हथियारबन्द कर रहा था उस वक्त प्रति उत्तर में पीडीपीए किसानों के उस विशाल जन समूह को हथियारबन्द नहीं कर पाया जो उस पर जान न्योछावर करने को तैयार बैठे थे। पीडीपीए ने जनता पर भरोसा करने के बजाय राजशाही के दौर से चली आ रही भाड़े की सेना पर भरोसा किया। दूसरी और ज्यादा बड़ी गलती पीडीपीए ने सोवियत संघ को आमंत्रित करके की। शुरू में वह अफगानिस्तान में अपनी सेना नहीं उतारना चाहता था। अन्ततः जब यह पुष्ट हो गया कि सीआईए के नेतृत्व में अमरीकी लड़ाकों के दस्ते मार्च (1979) में ही अफगान सीमा में घुस चुके हैं तो सोवियत संघ ने अफगान सरकार के ग्यारहवें निमत्रंण-पत्र को स्वीकार कर सितम्बर 1979 में अफगानिस्तान में सेना उतार दी।

अपने एक साक्षात्कार में ब्रजेन्सकी ने स्वीकार किया था कि सीआईए के दस्ते सोवियत सेना से 6 महीने पहले ही अफगानिस्तान में पहुँच गये थे। अमरीका का मकसद सोवियत संघ को उकसाकर वहाँ घुसाना था ताकि अफगानिस्तान सोवियत संघ का वियतनाम बन जाये और पूर्वी यूरोप पर से उसका ध्यान हट जाये। हालाँकि अफगानिस्तान सोवियत संघ का वियतनाम नहीं बना, सोवियत संघ उस मकसद और तरीके से अफगानिस्तान में नहीं घुसा था जिनसे अमरीका वियतनाम में। 1989 में सोवियत संघ की सेना अफगानिस्तान से बाहर आ गयी और 1992 में सत्ता पर मुजाहिदीनों का कब्जा हो गया।

अफगानिस्तान की तबाही के बारे में ब्रजेन्सकी का कहना था कि यह खास मायने नहीं रखता, अमरीका का हित पूरा होना लाजमी था। 1992 में मुजाहिदीनों के सत्ता पर कब्जे के बाद एक एकीकृत राष्ट्र के रूप में अफगानिस्तान का अन्त हो गया। यह आज भी एक खण्ड-खण्ड राष्ट्र है। 1996 में मुजाहिदीनों की सत्ता का भी अन्त हो गया और अफगानिस्तान धर्मान्ध तालिबान के कब्जे में आ गया जिसे खड़ा करने में अमरीका, सऊदी अरब और पाकिस्तान ने मुख्य भूमिका निभायी थी। तालिबान में इतना दम नहीं था कि वह पीडीपीए की तरह एक एकीकृत अफगान राष्ट्र खड़ा कर सके। कुल मिलाकर अमरीकी शासकों की साम्राज्यवादी प्रभुत्व की सनक ने अफगान राष्ट्र का अन्त कर दिया और अफगान जनता को खून में डूबो दिया।

अमरीका की अफगानिस्तान में वापसी

सन 2000 तक वैश्विक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण बदलाव आ चुके थे। 1997 में अमरीका ने "नयी अमरीकी शताब्दी" परियोजना पर काम शुरू कर दिया था। अधिकतर नव स्वाधीन राष्ट्र नवउदारवादी वैश्वीकरण के रूप में अमरीकी साम्राज्यवाद को स्वीकार कर चुके थे। मध्य एशिया, मध्यपूर्व और चीन जैसे जो कुछ राष्ट्र अमरीकी साम्राज्यवाद के आगे पूरी तरह घुटने टेकने को तैयार नहीं थे, उन्हें इस योजना से सबक सिखाना था। इस परियोजना के तहत अमरीका ने विरोधियों पर सैन्य हमले की नीति अपनायी।

अफगानिस्तान अपनी भौगोलिक स्थिति के चलते फिर से अमरीका के लिए महत्वपूर्ण हो गया था। यह मध्य एशिया और दक्षिण एशिया के सन्धि बिन्दु पर था। इसकी सीमाएँ चीन और ईरान से भी लगती थीं। अफगानिस्तान में अपनी सत्ता कायम कर अमरीका दोनों पर और साथ ही पूरे मध्य एशिया में अपना दबाव बढ़ा सकता था। इसके अलावा कैस्पियन सागर के आस-पास तेल और गैस के विशाल भण्डारों की खोज हो चुकी थी। इस भण्डार का बड़ा हिस्सा तुर्कमेनिस्तान के 'गल्काईनस' में होने की पुष्टि हुई थी, जो अफगानिस्तान की सीमा से लगता था। चीन भारत और पाकिस्तान के रूप में तीन बड़े खरीदार बेहद करीब मौजूद थे। एक "ट्रान्स अफगानिस्तान पाइपलाइन" की कल्पना को साकार करने का काम शुरू करने का वक्त आ गया था। इस परियोजना के लिए एशियाई विकास बैंक कर्ज देने को तैयार था।

तालिबान के अफगानिस्तान की सत्ता में रहते ये सभी उद्देश्य हासिल नहीं किये जा सकते थे। आखिरकार 2001 में ओसामा बिन लादेन को पकड़ने के बहाने से अमरीका ने अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया। अमरीकी प्रतिरक्षा विश्लेषक एरिस मारगोलिस ने 2009 में कहा था "अफगानिस्तान में मौजूदा युद्ध लोकतंत्र, महिला अधिकार, शिक्षा या राष्ट्र निर्माण के लिए नहीं है। इसके दूसरे बहाने, अलकायदा का तो शायद ही कोई अस्तित्व हो। इसके मुट्ठीभर सदस्य बहुत पहले ही पाकिस्तान भाग चुके हैं। वास्तव में, यह युद्ध तेल पाइपलाइन और ऊर्जा के संसाधनों से भरे कैस्पियन बेसिन पर पश्चिम के प्रभुत्व के लिए है।"

2001 में अमरीका ने अफगानिस्तान पर कब्जा तो कर लिया लेकिन वह अपनी सत्ता कभी जमीन पर नहीं उतार पाया। इस समय तक रूस और चीन भी मजबूत हो चुके थे। अमरीका मध्य एशिया की राजनीति में कोई खास बदलाव नहीं कर पाया। ईरान को झुकाने में भी वह नाकामयाब रहा।

'टीएपीआई पाइपलाइन' परियोजना पर कुछ काम नहीं हो

पाया। 2015 के बाद ही इस पर कुछ जमीनी काम सम्भव हो सका, 2018 के बाद से वह भी ठप पड़ा है। इस परियोजना के लिए वित्त का इन्तजाम एशियन डेवलमेण्ट बैंक को करना था। उसकी तैयारी भी धरी की धरी रह गयी।

अमरीका ने अफगानिस्तान के साथ युद्ध में 2500 अरब डॉलर खर्च किये हैं। मीडिया में इसे ऐसे अन्दाज में पेश किया जाता है मानो यह रकम अफगानिस्तान के नागरिकों पर खर्च हुई हो। अफगानिस्तान के नाम पर खर्च हुई विशाल रकम अमरीकी सैन्य अधिकारियों, पूँजीपतियों और अफगान ठेकेदारों की जेब में गयी है। 9 दिसम्बर 2019 को न्यूयार्क टाइम्स के एक लेख में रॉड नोरलैण्ड ने दावा किया था कि 30 जून 2018 तक सेना पर खर्च हुए 1500 अरब डॉलर का कोई स्पष्ट हिसाब नहीं है।

2018 में ही अफगानिस्तान के लिए नियुक्त 'स्पेशल इन्सपेक्टर जनरल फॉर अफगानिस्तान रीकंस्ट्रक्शन' की रिपार्ट कहती है कि अमरीकी करदाताओं का अरबों डॉलर उन अस्पतालों पर खर्च हुआ जिनमें कभी किसी रोगी का इलाज नहीं हुआ, उन स्कूलों पर जिनमें कभी कोई बच्चा नहीं पढ़ा। 300 अरब डॉलर बाढ़, भूस्खलन जैसी आपदाओं के नाम पर लिये गये थे। इसमें से एक डॉलर भी सार्थक कार्यों पर खर्च नहीं हुआ। 10 अरब डॉलर अफीम की खेती पर नियंत्रण के लिए दिये गये थे। इसके बावजूद अफगानिस्तान दुनिया की 80 प्रतिशत अफीम पैदा करता है। अमरीका इस पर रोक लगाने में पूरी तरह नाकाम रहा है। अमरीकी कब्जे के दौरान अफीम की खेती में 400 प्रतिशत वृद्धि हुई है। इसके सबसे बड़े खरीदार खुद अमरीका और यूरोप हैं। अर्थव्यवस्था की हालत यह है कि नशे का कारोबार अफगान नगरिकों के रोजगार और आय का सबसे बड़ा स्रोत बन गया है। अफगानिस्तान के आर्थिक विकास के लिए अमरीका ने केवल 24 अरब डॉलर खर्च किये हैं। इस रकम से बने ढाँचे का भी जमीन पर कोई अस्तित्व नहीं है। यहाँ की 30 प्रतिशत आबादी बेरोजगार है। ट्रान्सपेरेन्सी इण्टरनेशनल के अनुसार अफगानिस्तान दुनिया का सबसे भ्रष्ट देश है।

अमरीकी साम्राज्यवादी किसी के सगे नहीं हैं

अमरीकियों के भी नहीं। राष्ट्रपति बाइडेन ने बिल्कुल सही कहा है इस युद्ध में अमरीका को "अभूतपूर्व सफलता" मिली है लेकिन यह सफलता केवल अमरीकी शासक वर्गों की हैं। आम अमरीकियों के हिस्से में 2500 अरब डॉलर का कर्ज आया है। पूरा अफगान युद्ध कर्ज के डॉलरों से लड़ा गया है जिसके लिए 500 अरब डॉलर से ज्यादा का ब्याज का भुगतान कर्जदाताओं को किया जा चुका है और आगे भी किया जायेगा। अमरीकी जनता के हिस्से में अपने 2500 नौजवानों की लाशें और 26 हजार घायल भी आये हैं।

आज इसके सारे तथ्य समाने हैं कि अमरीका और तालिबान के बीच वर्षों से समझौता-वार्ता चल रही थी, जिससे अब्दुल गनी की सरकार को दूर रखा गया था। गनी सरकार पर 5000 तालिबानी कैदियों को रिहा करने के लिए 2020 से ही दबाव दिया जा रहा था। इस साल मार्च के शुरू से ही अमरीकी गृहमंत्री एण्टनी ब्लीकेन अफगान सरकार को तालिबान के साथ सत्ता समझौता करने के लिए मजबूर कर रहे थे। कई महीनों से अफगान सेना को तनख्वाहें नहीं दी जा रही थीं। अशरफ गनी 1980 के दशक से लगातार अमरीका की मदद कर रहा है, अमरीका ने उसे इस लायक भी नहीं समझा कि तालिबान से हुए समझौते और अमरीकी सैनिकों की रुखस्ती की तारीख के बारे मे बता दें। कमाल यह है कि भागते-भागते अमरीका अशरफ गनी की सरकार को तालिबान का प्रतिरोध न करने का दोषी भी ठहरा गया।

जिन अफगान नागरिकों ने अमरीका का सहयोग किया था उनसे अमरीका ने वहाँ आकर बसने का वायदा किया था। उन्हें ग्रीनकार्ड, अमरीकी पासपोर्ट दिये थे। ऐसे लाखों लोगों को अमरीका तालिबान के रहमोंकरम पर छोड़कर भाग गया है।

इस युद्ध से अफगानिस्तान के बाद सबसे ज्यादा नुकसान उठाने वाला देश शायद भारत है। अमरीका 2015 से ही तालिबान के साथ समझौता करके वहाँ से भागने की राह निकाल रहा था। एक ओर अमरीका ने भारत सरकार पर अफगानिस्तान में निवेश के लिए लगातार दबाव बनाया। दूसरी ओर, तालिबान के साथ बातचीत में उसे कहीं शामिल नहीं किया। भारत ने वहाँ 500 से ज्यादा परियोजनाओं में हजारों करोड़ का निवेश किया था। इसके अलावा अफगानिस्तान को फारस की खाड़ी से जोड़ने के लिए ईरान के चाबाहार बन्दरगाह को विकसित करने और वहाँ से अफगानिस्तान तक रेललाइन बिछाने के लिए भी पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा के आदेश पर भारत ने हजारों करोड़ रुपये खर्च किये थे।

अफगानिस्तान मामले में भारत सरकार ने अमरीकापरस्ती की मिशाल कायम की है। अमरीका जैसा-जैसा आदेश देता गया भारत सर झुकाकर स्वीकार करता गया। आजाद भारत के इतिहास में शायद यह पहली बार हुआ कि उसने इतने भारी निवेश के वाबजूद तालिबान के साथ स्वतंत्र रिश्ते कायम नहीं किये। जबकि तालिबान की तरफ से सभी देशों के साथ वार्ताकार की भूमिका निभा रहा और दोहा में तालिबान के दफ्तर का प्रमुख स्तेनजाई 1980 के दशक में भारत से सैन्य शिक्षा हासिल कर चुका है। इसके अलावा तालिबान की ही पहल पर कतर ने भारत को बार-बार सम्पर्क सूत्र और निमंत्रण भिजावाये लेकिन भारत सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। अलजजीरा की रिपोर्ट बताती है कि

तालिबान ने काबुल में भारतीय दूतावास की सुरक्षा की गारंटी ली थी और तालिबानी सैनिकों के सुरक्षा घेरे में ही दूतावास के कर्मचारी हवाई अड्डे तक आये। इसके बावजूद भारत ने अपना दूतावास बन्द कर दिया जबकि अमरीका का उपदूतावास अभी भी काबुल में मौजूद है।

भारत के अपमान की हद यह थी कि हवाई अड्डे पर जब उसने अपने कार्यालय के लिए थोड़ी सी जगह माँगी तो अमरीका ने उसे यह कहकर भगा दिया कि यहाँ केवल नाटो के देशों को ही जगह मिल सकती है। हर जगह से अपमानित होकर भारत को अन्ततः घुटनों के बल चलकर तालिबान के साथ वार्ता की ओर जाना पड़ा।

अब तालिबान एक सरकार निर्मित करने की कोशिश कर रहा है। हामिद करजई और अब्दुल्ला अब्दुल्ला जैसे लोग भी सरकार में शामिल होने की जुगत भिड़ा रहे हैं। अमरीका की सरपरस्ती में ऐसे तमाम लोग लोकतंत्र का गीत गाते थे, अब शरिया कानूनों का गुणगान कर रहे हैं। तालिबान ने मात्र इतना संकेत दिया है कि उसका इस बार का शासन पिछले शासन से कम कठोर होगा।

1980 के दशक में अमरीका की अगुवाई में जिस अफगानिस्तान को खून में डूबो दिया था तालिबान उसके आस-पास भी नहीं पहुँच सकता। इसके बहुत से नेता उस अफगानिस्तान की हत्या में शामिल थे। समाज और खेती की जमीन की मुक्ति के बिना न तो अफगानिस्तान में शान्ति सम्भव है और न ही किसी तरह का विकास और यह कदम पीडीपीए ही उठा सकती थी तालिबान नहीं।

चीन और रूस तालिबान के रूख में और अफगानिस्तान के भविष्य में कोई सकारात्मक बदलाव ला देंगे, इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है। चीन 9 ट्रिलियन डॉलर की खनिज सम्पदा की लूट के मकसद से वहाँ है और रूस चीन, ईरान, पाकिस्तान और अफगानिस्तान को मिलाकर एक मजबूत खेमा बनाने के मकसद से।

अफगानिस्तान की एकमात्र उम्मीद वे छात्राएँ और छात्र है जो तालिबानी सैनिकों की भरी बन्दूकों के सामने बेखौफ होकर हर रोज प्रदर्शन करते हैं। देर-सवेर एक नये अफगानिस्तान का निर्माण उन्हीं के हाथों से होगा।

पेज 68 का शेष.....

1979 की इरानी क्रान्ति ने सऊदी राजपरिवार तथा अमरीकी राजसत्ता के उच्च संस्थानों के अन्दर खलबली मचा दी। मोहम्मद रेजा शाह पहलवी की राजशाही के उखड़ जाने के साथ ही लोकतन्त्र के इस्लामी रूप के निर्माण का आगाज हो गया था। ईरान के इस्लामी नेता अयातुल्लाह रूहौल्लाह खोमेनी ने कहा था कि इस्लाम और राजतन्त्र का कोई सामन्जस्य नहीं है। उन्होंने सऊदी अरब को फारस की खाड़ी में अमरीकी दलाल बताया। सऊदी शासकों को खतरा नजर आया। उन्होंने ईरान की क्रान्ति की विधर्मी शियाओं का राजनीतिक उभार कहकर निन्दा की, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। इस क्षेत्र में इस्लामी गणराज्य का झण्डा बुलन्द होता गया, पाकिस्तान से लेकर मरोक्को तक।

आखिरकार, 1980 में सऊदी शासकवर्ग और पश्चिमी ताकतों ने ईरान में इराकी सेना भेजने के लिए सद्दाम हुसैन को उकसा दिया। यह लड़ाई 1988 तक जारी रही जिसमें रियाध और वाशिंगटन के फायदे के लिए इराक और ईरान दोनों अपना खून बहाते रहे। इस लम्बी लड़ाई से कमजोर हुआ इराक अपर्याप्त मदद के कारण अरब की खाड़ी में इस लडाई से फायदे उठाने वालों के खिलाफ हो गया और 1990 में कुवैत पर हमला बोल दिया और साथ ही सऊदी अरब को भी धमकी दे डाली। अब रंगमंच पर अमरीका युद्ध की अपनी पुरजोर तैयारी के साथ घुस गया और इराक पर बमबारी करके उसे खण्ड-खण्ड कर दिया। इसके साथ ही अमरीका ने सऊदी अरब को निश्चित सन्देश दिया कि अमरीकी सेना आखिरी समय तक उसकी रक्षा करेगी।

एक बार सऊदी अरब का इतिहास समझ लिया जाये तो आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस राजशाही के राजाओं ने जानबूझकर पश्चिमी ताकतों के भू-राजनीतिक सेवादार होने का रिश्ता कबूल किया था। पूरी दुनिया में इस राजशाही का महत्व बहुत कम या सीमित होता अगर अमरीका और ब्रिटिश साम्राज्य ने दिलो-जान से इसकी मदद/समर्थन नहीं किया होता। इनके मजबूत समर्थन के बदौलत ही सऊदी अरब एक महत्वपूर्ण राजनीतिक खिलाड़ी बना है। अपने यहाँ तेल के विराट भण्डार के जोर पर ही सऊदी अरब के पतनशील राजा और राजकुमार कई देशों पर नरसंहार और युद्ध थोपते रहे हैं जैसे यमन में बमबारी, सीरिया और लीबिया में अप्रत्यक्ष हमले आदि। सभी ताकतों ने यह सब होने दिया और राजपरिवार को इनके अनगिनत अपराधों के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन दिया। जैसा कि चे ग्वेरा ने कहा था, "साम्राज्यवाद की पशुता की कोई सीमा नहीं है, न ही इसकी कोई राष्ट्रीय सीमा है।"

(सोशलिस्ट प्रोजेक्ट से साभार)

अनुवाद-- अमित इकबाल

एशिया में अफीम की खेती और साम्राज्यवादी नीतियाँ

- शैलेन्द्र चौहान

एक जमाने में अफीम ब्रिटेन के कभी न अस्त होने वाले सूरज को ऊर्जा प्रदान करने वाला सबसे बड़ा स्रोत हुआ करता था। दरअसल, अफीम और उसके द्वारा किये गये विनाश की कहानी ब्रिटेन के वैश्विक शक्ति के रूप में उदय की दास्तान है। 19वीं सदी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जरिये भारत पर धीरे-धीरे काबिज हो रहे ब्रिटेन को दो समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। ब्रिटेन को तब तक चीन की चाय का चस्का लग चुका था और इस वजह से उसे वहाँ से भारी मात्रा में इसका आयात करना पड़ रहा था। दिक्कत यह थी कि चीन को चाय के निर्यात के बदले में ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के बजाय चाँदी चाहिए थी। इस तरह चाय के चक्कर में ब्रिटेन की चाँदी चीन पहुँच रही थी और उसका खजाना खाली हुआ जा रहा था। दूसरी तरफ, भारत में बढ़ते भौगोलिक दायरे के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का खर्च भी तेजी से बढ़ रहा था। ब्रिटेन ने अफीम से एक तीर से दो शिकार किये।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और 1857 के बाद ब्रिटिश सरकार ने बिहार और बंगाल में किसानों को अफीम पैदा करने के लिए बाध्य किया और उसके प्रसंस्करण के लिए गाजीपुर और पटना में फैक्ट्रियाँ स्थापित कीं। यहाँ तैयार होने वाला अफीम कलकत्ता (अब कोलकाता) पहुँचाया जाने लगा और वहाँ से उसे जहाजों में भरकर चीन निर्यात किया जाने लगा। इस तरह ब्रिटेन को कमाई का एक स्रोत भी मिल गया और चाय के आयात के बदले चाँदी निर्यात करने की जरूरत भी नहीं पड़ी। ब्रिटेन का यह गन्दा धन्धा एक सदी तक चलता रहा। उसे यह बखूबी एहसास था कि अफीम सेहत के लिए बहुत खतरनाक है, लेकिन अपने साम्राज्य को बचाये रखने के लिए अफीम की बुराइयों से उसने आँखें मून्द लीं। बहरहाल, अफीम के इस कारोबार ने सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें ही मजबूत नहीं कीं, बल्कि देश के अन्दर आर्थिक असमानता के बीज भी बोये। भारतीय पत्रकार थामस मैनुएल की अफीम के व्यापार और उसके वैश्विक प्रभाव पर केन्द्रित 'ओपियम इंक' नामक शानदार पुस्तक आयी है।

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठकों को यह भी आसानी से समझ में आ जाएगा कि बिहार में क्यों गरीबी का नाला बह रहा है और मुम्बई में क्यों समृद्धि का समुद्र लहरा रहा है।

पुस्तक में नशीले पदार्थ को लेकर अमरीका के दोगलेपन को भी उजागर किया गया है। तथ्यों, तर्कों और घटनाओं के जरिये लेखक ने बताया है कि कैसे अफीम और दूसरी नशीली दवाओं के खिलाफ अभियान के नाम पर अमरीकी खुफिया एजेंसी सीआईए ने इनके काले कारोबार को बढ़ावा देने का काम किया। अमरीका एक तरफ संयुक्त राष्ट्र के झण्डे तले सभी देशों को नशीले पदार्थों के खिलाफ अन्तरराष्ट्रीय सन्धि करने के लिए मनाता रहा और दूसरी तरफ सीआईए को इन पदार्थों की तस्करी के जरिये विभिन्न देशों में विद्रोहियों को माली मदद पहुँचाता रहा। अमरीका यह सब कभी लोकतंत्र पर खतरे के नाम पर करता था और अब इस्लामी आतंक से लड़ने के नाम पर कर रहा है। सोवियत संघ द्वारा यह आरोप लगाया गया था कि अमरीकी केन्द्रीय खुफिया एजेंसी (सीआईए) के एजेण्ट अफगानिस्तान से अफीम की तस्करी में मदद कर रहे थे, यह पश्चिम में, अफगान प्रतिरोध के लिए धन जुटाने के लिए हो रहा था, या सोवियत संघ को कमजोर करने के लिए मादक पदार्थों की लत लगाने की सोच थी। अल्फ्रेड मैककॉय के अनुसार सीआईए ने विभिन्न अफगान ड्रग लॉर्ड्स का समर्थन किया, उदाहरण के लिए गुलबुद्दीन हिकमतयार और अन्य जैसे हाजी अयूब अफरीदी। कई प्रतिरोधी नेताओं ने अपने क्षेत्रों में अफीम के उत्पादन को बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित किया, नशे की 'हराम' इस्लामी स्थिति की परवाह किये बिना। विशेष रूप से गुलबुद्दीन हिकमतयार, मुल्ला नसीम अखुन्दजादा और इस्मत मुस्लिम इसके प्रमुख पैरोकार थे। 1982 और 1983 के बीच उत्पादन दोगुना होकर 575 मीट्रिक टन हो गया। इस समय संयुक्त राज्य अमरीका मुजाहिदीन की "हथियारों की लम्बाई" का समर्थन करने वाली रणनीति का अनुसरण कर रहा था जिसका मुख्य उद्देश्य था सोवियत संघ को अफगानिस्तान से वापस धकेलना। ध्यातव्य है कि अफगानिस्तान की धरती दुनिया में सबसे ज्यादा अफीम पैदा करने के लिए भी जानी जाती है। 1994 में वहाँ 3500 टन अफीम का उत्पादन होता था, जो 2007 में बढ़कर 8200 टन हो गया। अब यह उत्पादन घटा है। संयुक्त राष्ट्र के अनुमान के मुताबिक 2020 में अफगान किसानों ने 2,300 टन अफीम की खेती की। एक अनुमान के मुताबिक वैश्विक अफीम उत्पादन का 90 फीसद अफगानिस्तान में होता है।

एक दूसरा पहलू भी है। अफगान-अमरीकी मूल की पत्रकार फरीबा नावा ने 2011 में लिखी अपनी किताब 'ओपियम नेशन : चाइल्ड ब्राइड्स, ड्रग लॉर्ड्स, ऐण्ड वन वूमन्स जर्नी थ्रू अफगानिस्तान' में इस देश में मादक पदार्थों के धन्धे से सम्बन्धित पहलुओं का उल्लेख किया था। नावा ने कहा था कि अफगानिस्तान के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 60 प्रतिशत हिस्सा वहाँ फल-फूल रहे 400 करोड़ डॉलर के अफीम के धन्धे से आता है। लेखिका ने यह भी कहा कि अफगानिस्तान की सीमा से बाहर यह धन्धा करीब 6,500 करोड़ डॉलर का है। इस पुस्तक के अनुसार अफीम का धन्धा अफगानिस्तान के लोगों के दैनिक जीवन पर सीधा प्रभाव डालता है। कई परिवार पूरी तरह अफीम उद्योग पर निर्भर हैं और इससे वे बतौर उत्पादक, तस्कर या अन्य किसी न किसी रूप में जुड़े हैं। इसके साथ ही 'ओपियम ब्राइडस' की संस्कृति भी विकसित हो गयी है। जिस वर्ष फसल दगा दे जाती है, किसान अफीम का कर्ज उतारने के लिए अपनी बेटियाँ तस्करों को बेच देते हैं। नावा ने इस सन्दर्भ में 12 वर्ष की लड़की दारया का जिक्र किया।

अफगानिस्तान में तालिबान के सत्ता में आने के बाद अब एक बड़ी चिन्ता यह है कि क्या अफगानिस्तान फिर से ड्रग्स (नशीली दवाओं) की तस्करी का केन्द्र बनेगा। यूरोपीय जानकारों का कहना है कि तालिबान के लिए ड्रग्स के कारोबार पर काबू पाना आसान नहीं होगा। इसकी वजह यह है कि अफगानिस्तान के कई प्रान्तों में अफीम की खेती ही बहुत से लोगों की आमदनी का एकमात्र जरिया है। इसके अलावा अपने पिछले शासनकाल के शुरुआती वर्षों में तालिबान ने ड्रग्स को अपनी आय का स्रोत भी बना रखा था। हालाँकि अपने शासन के आखिरी दो वर्षों में उसने अफीम की खेती को रोकने की कोशिश की थी। यही अफीम तालिबान आतंकियों के लिए धन का सबसे प्रमुख स्रोत है। जानकारों का कहना है कि अगर तालिबान अफीम की खेती पर काबू पाना चाहे, तब भी उसके लिए ये मुश्किल चुनौती होगी। उस हाल में जिन किसानों की आमदनी का यह मुख्य स्रोत है, उनकी बगावत का उसे सामना करना पड़ेगा। लन्दन यूनिवर्सिटी में स्कूल ऑफ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज के प्रोफेसर जोनाथन गुडहैण्ड ने वेबसाइट पॉलिटिको डॉट ईयू से कहा कि तालिबान के पिछले शासनकाल के दौरान अफीम की खेती पर कार्रवाई करने की तालिबान की कोशिश से किसानों के लिए मुश्किल खड़ी हुई थी।

इस बार सत्ता पर कब्जे के बाद तालिबान ने कहा है कि वह अफगानिस्तान को अफीम की खेती का केन्द्र नहीं रहने देगा। काबुल पर तालिबान के कब्जे के बाद अपनी पहली प्रेस कांफ्रेंस में तालिबान के प्रवक्ता जुबिहुल्लाह मुजाहिद ने अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से अपील की थी कि वह अफीम की खेती रोकने में तालिबान की मदद करे। जानकारों का कहना है कि अभी तालिबान अफीम से होने वाली आय पर निर्भर नहीं है। हालाँकि उससे होने वाली आय का वह इस्तेमाल जरूर करता रहा है। अब चूँकि पश्चिमी देशों ने अफगानिस्तान के लिए अपनी सहायता रोक दी है, इसलिए ये आशंका बढ़ी है कि तालिबान की अफीम के कारोबार पर निर्भरता बढ़ सकती है।

नवम्बर 2017 में अमरीकी सेना ने तालिबान के मादक पदार्थों के संयंत्रों पर हवाई हमले किये और इनके खिलाफ विशेष अभियान भी चलाये। 'आयरन टेम्पेस्ट' नाम से चलाये गये इस अभियान के पीछे यह तर्क दिया गया कि इस हमले का मकसद तालिबान की कमजोर नस यानी उनके वित्तीय स्रोत पर वार करना है। तालिबान को उसके अभियान के लिए करीब 60 प्रतिशत रकम अफीम के धन्धे से मिलती है। सैकड़ों हवाई हमले करने के बाद तालिबान के सालाना 20 करोड़ डॉलर के अफीम के धन्धे पर नियंत्रण करने में असफल अमरीकी सेना ने उस समय अपना अभियान समाप्त कर दिया जब ट्रम्प प्रशासन के अधिकारी तालिबान के साथ प्रत्यक्ष शान्ति वार्ता करने लगे।

लेकिन आतंक के साथ ही अफीम के कारोबार में अमरीका कितना और किस स्तर पर संलिप्त था यह एक रहस्य है।

विदेशी प्रभुत्व का प्रतिरोध करने में जो तमाम कारक काम में आते हैं, उनमें संस्कृति का महत्व इसलिए भी बहुत ज्यादा है, क्योंकि सैद्धान्तिक और वैचारिक आधार पर उस समाज की वास्तविकताओं की सशक्त अभिव्यक्ति संस्कृति में ही होती है, जिस पर प्रभुत्व स्थापित किया गया है या किया जाना है। संस्कृति एक ही समय में जनता के इतिहास का परिणाम भी है और इतिहास की नियामक शक्ति भी, क्योंकि इसका मनुष्य तथा उसके परिवेश, लोगों तथा किसी समाज में रह रहे लोगों के बीच सम्बन्धों के विकास पर जो भी सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। इस तथ्य से अनजान रहने का मतलब है विदेशी प्रभुत्व का मुकाबला करने में पीछे रहना और यही अनेक अन्तरराष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की विफलता की भी कहानी है।

-- अमिल्कर कबराल, जीवन-संघर्ष और विचार

सऊदी अरब की साम्राज्यवादी विरासत

-- यानिस इकबाल

सऊदी अरब जैसे एक निरंकुश सुन्नी राजतन्त्र को वैश्विक 'लेकतन्त्र' के तथाकथित पैरोकार पश्चिम का पुरजोर समर्थन क्यों मिल रहा है? यह सवाल शायद ही पूछा जाता हो। जब तेल और हथियारों के व्यापार का मामला आता है तो उदारवादी लोकतन्त्र और धार्मिक कट्टरवाद के ऊपरी तौर पर दिखायी देनेवाले बेमेल स्वरूप पर तुरन्त ही पर्दा डाल दिया जाता है। यह रवैया सिर्फ पश्चिम के दोगलेपन को ही जाहिर नहीं करता है। इसकी जड़ें उस ऐतिहासिक प्रक्रिया में हैं जिसके तहत बड़ी ताकतों ने सऊदी अरब को साम्राज्यवादी हितों की चौकी और क्रान्तिकारी विचारधाराओं के खिलाफ दीवार के रूप में खड़ा किया था।

वहाबी पंथ के स्थापक शेख मुहम्मद इब्ने अब्दुल वहाब (1703-92) उन्नीसवीं सदी के एक किसान थे, जिन्होंने खजूर की खेती और पशुपालन छोड़कर स्थानीय इलाकों में सातवीं सदी की शुद्ध आस्थाओं की तरफ वापस जाने के प्रचार के लिए खुद को समर्पित कर दिया था। उन्होंने सभी पवित्र स्थलों की पूजा करने को गलत बताया और 'ईश्वर एक और एकमात्र है' पर जोर दिया। उन्होंने अमानवीय व्यवहारों के लिए पिटाई के एकमात्र रास्ते पर जोर दिया, जैसे चोर के हाथ-पैर काट देने चाहिए और अपराधियों को सरेआम मौत के घाट उतार देना चाहिए। जब उन्होंने अपने प्रचार की बातों पर अमल करना शुरू किया तो इस इलाके के धार्मिक नेता उनके खिलाफ हो गये और उइयाना के स्थानीय मुखिया ने उन्हें इलाका छोड़कर चले जाने के लिए कहा।

सल्तनत का निर्माण

1744 में वहाब देरैया भाग गये, जहाँ उन्होंने मौजूदा सऊदी अरब पर राज करने वाले राजवंश के स्थापक, नाज्द जनजाति के सरदार मोहम्मद इब्ने सौद के साथ समझौता किया। वहाब की बेटी इब्ने सौद की बीबियों में शामिल हुई। इब्ने सौद ने वहाब के आध्यात्मिक जोश का इस्तेमाल जनजातियों को वैचारिक रूप से अनुशासित करने में किया और बाद में इनको ओटोमन साम्राज्य के खिलाफ जंग में झोंक दिया। वहाब इस्ताम्बुल के सुल्तान को इस्लाम का खलीफा होने के काबिल नहीं समझते थे और इस्लाम को आधुनिक बनाने वालों तथा काफिरों के खिलाफ स्थायी जिहाद की नैतिकता का प्रचार करते थे।

इस्लामिक सभ्यता की खोयी हुई गरिमा का विलापगान गाते हुए वे सभी नये तौर-तरीकों को हटा देने की इच्छा जताते थे। उन तौर-तरीकों को वह इस्लाम के असली मतलब के खिलाफ मानते थे। खुद सुन्नत (रसूल हजरत मोहम्मद जैसी जिन्दगी) और हदीस के रास्ते पर चलकर वे इस्लामी दुनिया का शुद्धीकरण करना चाहते थे, यानी ओटोमन तुर्क और उनके हमराहों द्वारा इस्लामी दुनिया में लाये गये पतित रस्मों-रिवाजों को मिटा देना चाहते थे।

1801 में इब्ने सौद की सेना ने शियाओं के पवित्र शहर करबला पर हमला करके हजारों लोगों का कत्ल किया और पूजे जाने वाले सभी मजारों को तबाह कर दिया। सदियों पुरानी इस्लामी वास्तुकला के नमूनों, मक्का और मदीना के मजारों को भी इस सेना ने धूल में मिला दिया क्योंकि वहाबी आस्था के अनुसार यह अनमोल चीजें मूर्तिपूजा का प्रतीक थीं। ओटोमनों ने हिजाज पर कब्जा करके तथा मक्का और मदीना को अपनी जिम्मेदारी में लेकर इसका बदला लिया। पहले विश्वयुद्ध के बाद ओटोमन साम्राज्य के पतन तक इब्ने सौद और वहाब का गठबन्धन अन्दरूनी इलाकों तक सीमित रहा। 1926 आते-आते नये सरदार अब्दुल अजीज इब्ने सौद के नेतृत्व में अल-सौद जनजाति और उनके गठजोड़ के उन्मादी वहाबी मित्र इख्वान यानी "ब्रदरहुड" ने फिर से इस्लामी दुनिया के सबसे पवित्र शहरों पर कब्जा कर लिया और साथ ही साथ इस क्षेत्र के पश्चिमी तट पर महत्वपूर्ण व्यावसायिक बन्दरगाहों को भी अपने कब्जे में ले लिया।

अठारहवीं सदी के शुरुआती अभियानों की तरह ही यह अभियान भी खून-खराबे, जबरन धर्मान्तरण, गुलाम बनाने और वहाबी पंथ के उन्मादी कानून लोगों पर थोपने वाला था। इस अभियान की बुनियाद में अब्दुल अजीज और ब्रिटिश साम्राज्य का गठजोड़ भी था। 1915 में किये गये एक समझौते के मुताबिक अब्दुल अजीज द्वारा कब्जाये गये भूखण्ड के संरक्षण की जिम्मेदारी ब्रिटेन ने ले ली और उसके बदले ब्रिटिश सरकार ने विरोधी जनजातियों के सरदारों के खिलाफ अब्दुल अजीज की मदद की और ओटोमन साम्राज्य के खिलाफ साझा मोर्चे में लड़ना तय किया। ओटोमन साम्राज्य के बिखर जाने के बाद भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों

और अब्दुल अजीज के रिश्ते लगातार अन्तरंग रहे हैं, जो मक्का के शरीफ हुसैन (पवित्र शहरों के रक्षक खानदान का सरदार, जो रसूल के अपने वंशज हैं) के खिलाफ लड़ाई में दिखायी दिया।

हुसैन ने पाला बदलकर और जून 1916 में "अरब विद्रोह" का नेतृत्व करके ओटोमन साम्राज्य की पराजय में योगदान दिया था। जिसके चलते अरब इलाके में तुर्की की राजनीतिक उपस्थिति खत्म हो गयी थी। वह मिस्र के ब्रिटिश हाईकमिश्नर हेनरी मैकमहोन से बात करके अपना पक्ष बदलने पर तब सहमत हुआ जब मैकमहोन ने उन्हें यकीन दिला दिया कि तुर्कों को युद्ध में पराजित करने के बाद फारस की खाड़ी से लेकर गाजा तक एक एकीकृत अरब देश का निर्माण किया जायेगा। हुसैन और मैकमहोन के बीच हुए पत्र-व्यवहार को मैकमहोन-हुसैन वार्ता के रूप में जाना जाता है। युद्ध खत्म होते ही हुसैन ने ब्रिटिशों से अपना वादा पूरा करने की माँग की। लेकिन ब्रिटिशों की ख्वाहिश थी कि हुसैन ब्रिटेन और फ्रांस के बीच हुए अरब दुनिया के बँटवारे (साइक्स-पिको समझौता) को स्वीकार कर ले।

इसके साथ ही बेल्फौर घोषणा के अनुसार फिलिस्तीन में यूरोपीय यहूदियों का उपनिवेश कायम करवाकर "यहूदियों के लिए एक राष्ट्रीय घर" सुनिश्चित करने में भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी हुसैन की सहमति की उम्मीद कर रहे थे। यह सभी माँगें ब्रिटिशों द्वारा लिखी गयी एंग्लो-हिजाज सन्धि में रखी गयी थी, जिस पर दस्तखत करने से हुसैन ने इनकार कर दिया था। 1924 में ब्रिटिशों ने इब्ने सौद को हुसैन से लड़ा दिया। लार्ड कर्जन (1905 में बंगाल का बँटवारा किया था) हुसैन पर 'अन्तिम चोट' कह कर इसकी तारीफ की।

अब्दुल अजीज के साम्राज्यवादी ताकतों की गोद में बैठ जाने से इख्वान बेहद नाराज थे, हालाँकि यही ताकतें उनका वित्तपोषण भी करती थीं। इख्वान अब्दुल अजीज के विलासितापूर्ण जीवन, पश्चिम के साथ उसके परिवार के सम्बन्धों, शियायों के प्रति सापेक्षिक उदारता (जबकि शियाओं का बर्बरतापूर्ण दमन जारी था) से भी नाराज थे। नतीजतन 1927 में जब अब्दुल अजीज ने ब्रिटिशों के साथ एक और समझौता किया, जिसके तहत हिजाज और नाज्द तथा उन पर निर्भर इलाकों पर उनकी "परिपूर्ण और निरंकुश" सत्ता स्वीकार कर ली, तो इसके कुछ ही दिन बाद इख्वानों ने खुलकर विद्रोह कर दिया।

अरब के कई इलाके जीतने के बाद इख्वानी विद्रोहियों ने ब्रिटिशों और फ्रांसीसियों द्वारा संरक्षित ट्रान्सजॉर्डन, सीरिया और इराक को वहाबी विचारधारा का अनुयायी बनाने के लिए उन पर हमला करना शुरू किया। ऐसा करके वे मध्यपूर्व में साम्राज्यवादी हितों के साथ सीधे टकराव में आ गये। ब्रिटिश साम्राज्य की सैनिक मदद से तीन साल तक चली लड़ाई के बाद अब्दुल अजीज ने उन्हें पराजित किया और उनके नेताओं को मौत की सजा दी। 1932 में अपनी जीत को सुनिश्चित करने के लिए अब्दुल अजीज ने खुद को एक नये राज्य का राजा घोषित किया, जिसका नाम उसने परिवार के नाम पर सऊदी अरब रखा, लेकिन इख्वानी विद्रोह का दमन किसी भी मायने में वहाबी कट्टरवाद का खात्मा नहीं था। इस्लामी उग्रवाद के डर से राजपरिवार ने इख्वान आन्दोलन के स्थानीय नेताओं को राज्य मशीनरी में शामिल करके उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। इस तरह एक पिछड़ी विचारधारा वाले राज्य की नींव रखी गयी। धार्मिक एकता और एक ही परिवार के प्रति वफादारी के चलते पूरी दुनिया में सऊदी अरब इकलौता देश है जिसका मालिकाना एक राजवंश के पास है।

अमरीका का पिट्ठू बनना

1933 में अब्दुल अजीज को भयानक वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा क्योंकि हज का टैक्स, जो उसकी आमदनी का मुख्य स्रोत था, उस समय चल रही महामन्दी के चलते घट गया। ऐसे में उसे 50 हजार पाउण्ड की कीमत के सोने के बदले अमरीका के स्टैण्डर्ड आयल ऑफ कैलिफोर्निया (सोकाल) को तेल के कारोबार में छूट देनी पड़ी। अब्दुल अजीज और सोकाल के समझौते ने डगमगाते राजा को राजसत्ता सम्भालने के लिए पर्याप्त धन दिया। वास्तव में अब्दुल अजीज का शासन इतना कमजोर था कि अपने जीते हुए इलाकों पर सौद परिवार का उतना मजबूत कब्जा नहीं था जितना कब्जा इस परिवार के ऊपर ब्रिटिशों का था। सोकाल ने अब्दुल अजीज को 2.8 करोड़ डॉलर का कर्ज दिया और 1930 के दशक में तेल के खनन के लिए सालाना 28 लाख डॉलर राजस्व देने का भी फैसला किया।

बाद में सोकाल ने दूसरी अमरीकी कम्पनियों (एस्सो, टेक्सेको, मोबिल) के साथ मिलकर अरेबियन अमेरिकन आयल कम्पनी (अरामको) स्थापित की। इस कम्पनी ने पूर्वी अरब में तेल का खनन किया और 1938 में सऊदी अरब में तेल का उत्पादन शुरू हो गया। जब तेल के उत्पाद और निर्यात के लिए उन्होंने मजदूर बस्तियाँ, कॉर्पोरेट शहर, सड़कें, रेलवे, बन्दरगाह तथा दूसरी जरूरी संरचना निर्माण करना शुरू किया तो सऊदी अरब की विकासशील राजनीतिक-आर्थिकी तुरन्त ही अरामको और उसके अमरीकी मददगारों के साथ जुड़ गयी। इन निर्माण परियोजनाओं को अमरीकी सरकार की तरफ से भरपूर सब्सिडी मिलती रही जिसकी रकम करोडों डॉलर तक थी।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान उभरने वाले अमरीकी साम्राज्यवाद के विश्वस्त जोड़ीदार के रूप में सऊदी अरब की भूमिका मजबूत हुई। 1943 में वाशिंगटन ने घोषणा की कि "सऊदी अरब की रक्षा

संयुक्त राज्य अमरीका की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण है" और युद्धकालीन जरूरतों के बदले सऊदी अरब की जमीन को युद्ध के लिए इस्तेमाल करने का समझौता किया गया। अब्दुल अजीज की सेना को प्रशिक्षित करने के लिए एक अमरीकी सैन्य मिशन पहुँचा और अमरीकी वायु सेना ने दहरान में तेल के कुओं के पास वायु सेना क्षेत्र का निर्माण करना शुरू किया, जिससे अबादान में ब्रिटिश छावनी का सहारा लेना अमरीका के लिए जरूरी नहीं रह गया। यह सैन्य ठिकाना जापान और जर्मनी के बीच और सोवियत औद्योगिक प्लाण्टों के नजदीक सबसे बड़ा अमरीकी वायु सेना अड्डा था। इस सैन्य ठिकाने पर वाशिंगटन का कब्जा केवल 1962 तक ही रहा, जब साम्राज्यवाद विरोधी प्रतिरोध ने सऊदी राजतन्त्र को अमरीकी सेना से वापस जाने के लिए कहने को मजबूर कर दिया। लेकिन कुछ दशक बाद अगस्त 1990 में जब इराक ने कुवैत पर हमला किया तो अमरीकियों को इस पर दुबारा कब्जा करने का मौका मिल गया।

1945 में जब स्वेज नहर के बारे में अमरीकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट और अब्दुल अजीज की बैठक हुई थी तब ही अमरीका और सऊदी अरब के रिश्ते पर वह मशहूर मोहर लग गयी थी। दोनों नेताओं ने तय किया था कि सऊदी अरब अमरीका को तेल देता रहेगा और अमरीका सऊदी अरब को सुरक्षा तथा सैनिक सहायता देता रहेगा। साल दर साल अमरीकी राष्ट्रपति सऊदी अरब की सुरक्षा के बारे में अपनी प्रतिबद्धता को दोहराते आये हैं। 1947 के ट्रूमैन सिद्धान्त को भी अमरीकी-सऊदी सैनिक गठबन्धन में इस्तेमाल किया गया था, जिसमें कहा गया था कि जिन देशों को सोवियत कम्युनिज्म से खतरा है अमरीका उन्हें सैन्य मदद भेजेगा। 1950 में अमरीकी राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन ने अब्दुल अजीज से कहा था, "आपकी राजशाही के लिए हर खतरा अमरीका के लिए जरूरी सरोकार का विषय है"। यही आश्वासन 1957 में आइजनहावर सिद्धान्त में दोहराया गया।

1969 के निक्सन सिद्धान्त में इस इलाके में अमरीका के तीन रणनीतिक मित्रों ईरान, सऊदी अरब और इजराइल को मदद देना शामिल किया गया। ईरान में अमरीका-समर्थित शासक की हार और अफगानिस्तान में सोवियत हमले के बाद अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने अपने सिद्धान्त को सोवियत के खिलाफ सीधी धमकी के रूप में पेश किया, जिसमें स्पष्ट रूप से जाहिर किया गया था कि मध्यपूर्व के तेल पर सिर्फ अमरीका का एकाधिकार है। कार्टर के बाद आये रोनल्ड रीगन ने इस नीति को अक्टूबर 1981 में विस्तार दिया "कार्टर सिद्धान्त का रीगन अनुसिद्धान्त", जिसमें घोषणा की गयी कि सऊदी शासकों की रक्षा के लिए अमरीका हस्तक्षेप करेगा। कार्टर सिद्धान्त ने बाहरी ताकतों के खतरे पर ध्यान केन्द्रित किया था। लेकिन रीगन अनुसिद्धान्त ने राजशाही की अन्दरूनी स्थिरता को सुनिश्चित करने का वादा किया।

प्रति-क्रान्ति का प्रसार

साठ और सत्तर के दशकों में सऊदी पेट्रो-राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। जिसका आधार तेजी से बढ़ता हुआ तेल उद्योग और राष्ट्रेतर ऊर्जा निगमों की वृद्धि था। पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं के तेल उपभोग पर टिकी इस पेट्रोल समृद्धि ने ना सिर्फ सऊदी अरब राज्य की तिजोरी भरने का काम किया, बल्कि उसे वहाबी विचारधारा को फैलाने की क्षमता भी प्रदान की, जो अब मात्र एक अल्पमत वाली उग्र विचारधारा नहीं थी बल्कि इस्लाम की शिक्षा को प्रभावित करने वाला एक सांकृतिक निर्यात भी थी। इस्लामी दुनिया की विरोधी व्याख्याओं और मजहबों का मुकाबला करने के लिए तेल की सम्पदा ने सऊदी राजपरिवार को मजबूत बनाया और उम्माह (इस्लाम में आस्था रखने वाली कौम) पर अपने प्रभाव का विस्तार करने में उसकी मदद की। दूसरे शब्दों में, सऊदी अभिजात शासक वर्ग ने खुद को उम्माह के सर्वोच्च रक्षक और नीतिनिर्धारक के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया।

दूसरे देशों में वहाबी विचारधारा का निर्यात अमरीका-सऊदी अरब की दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की रणनीति का हिस्सा था जिसमें दोनों देशों ने सोवियत "ईश्वरहीन कम्युनिज्म" के खिलाफ मोर्चा कायम किया था। अमरीका ने इस युद्ध में कम्युनिज्म को निशाना बनाया जबकि सऊदी अरब ने इस समीकरण के "ईश्वरहीन" हिस्से को लेकर ज्यादा मशक्कत की। वहाबी विचारधारा ने नासेर विचारधारा, बाथ विचारधारा और ईरानी क्रान्ति के शिया क्रान्तिकारिता के खिलाफ प्रति-क्रान्तिकारी हथियार के रूप में काम किया। सऊदी अरब ने 1962 में विश्व मुस्लिम लीग, नाम के एक संगठन की शुरुआत की जिसका मकसद था "इस्लाम के दुश्मनों द्वारा रची गयी खतरनाक साजिशों का मुकाबला करना जो मुस्लिमों को उनके मजहब से दूर ले जा रहे हैं और उनकी आपसी एकता तथा भाईचारे को तबाह कर रहे हैं"। इसके निशाने पर खासतौर पर गणराज्यवाद (नासेर से प्रभावित) और कम्युनिज्म था। इसका मुख्य मकसद इन राजतन्त्र-विरोधी विचारधाराओं को शु'उबी (अरब-विरोधी) विचार के रूप में स्थापित करना था।

समाजवादी झुकाव रखने वाले नॉन अलाइन मूवमेण्ट (एनएएम) के खिलाफ सन्तुलन कायम करने के लिए 1969 में स्थापित की गयी संस्था, आर्गेनाईजेशन ऑफ इस्लामिक कोऑपरेशन (ओआईसी) का सऊदी अरब केन्द्रीय सदस्य था। इन भू-राजनीतिक कार्यों के अलावा सऊदी अरब ने ओआईसी का इस्तेमाल अपने क्षेत्रीय विरोधियों, जैसे नासेरवादी मिस्र का मुकाबला करने के लिए भी किया।

शेष पेज 63 पर.....